PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 1

ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक 57 ■ नयी दिल्ली, मार्च-अप्रैल 2015

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र *(कुलपति)*

संपादक
विमल झा

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो.- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ₹20
वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹145 और द्वैवार्षिक ₹265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : क्विक ऑफसेट, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 फोन : 011-22825606

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 51 सी, ऊना इनक्लेव,
मयूर विहार-1, दिल्ली-110091 (मो. 09910186568)
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी: राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :
प्रकाशन विभाग: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन: 07152-232943

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

मुद्रण: क्विक ऑफसेट, दिल्ली-110032
email: computekin@gmail.com

इस बार

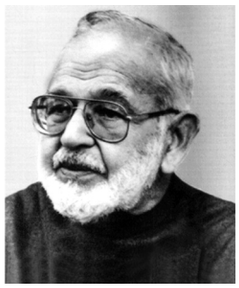

अज्ञेय से लेकर मुक्तिबोध तक को इतिहास ने एक ऐसे मोर्चे पर ला कर खड़ा कर दिया था जहां वे एक-दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे के सहयोगी थे। इन कवियों ने समाज में जो भी पुराना स्ट्रक्चर था- चाहे वह भावना के स्तर पर हो या अनुभव के स्तर पर या फिर विचार के स्तर पर, उसे तोड़ने का बीड़ा उठाया।

अज्ञेय के लेखन में व्यक्ति और समाज...: **नित्यानंद तिवारी** 4

नई राहों के अन्वेषक -अज्ञेय : **चित्तरंजन मिश्र** 8

बागी-लुटेरे तो 'फरिश्ते निकले' : **सत्यदेव त्रिपाठी** 20

अभियोग जिसमें फैसला... : **जवाहरलाल कौल** 24

शव-संस्कार से भी संभव है निर्वाण : **चंद्रदेव यादव** 26

बदलाव की आकांक्षा से पैदा हुई... : **विजय शर्मा** 30

जीवन की जटिलताओं की सहज... : **शिवदयाल** 33

सामाजिक विसंगतियों पर तीखी नजर : **वेंकटेश कुमार** 36

गांधी और सुभाष के संबंधों... : **अरुण कुमार त्रिपाठी** 38

भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर गंभीर विमर्श : **प्रेमपाल शर्मा** 43

एक दलित छात्र के जीवन का सच : **रमेश चन्द मीणा** 47

हिंदी कविता के पचास वर्ष : **अशोक नाथ त्रिपाठी** 50

'नदी के द्वीप' पढ़ते समय यह कचोट हमेशा बनी रही कि वह क्या था जो इन पात्रों को ऐसा निर्मित कर गया। कैसे बने ये सारे पात्र। कहां था उनका बचपन। कैसी थी उनकी पृष्ठभूमि, उनके ऐसे निर्माण के तत्व क्या थे?

'नदी के द्वीप' में व्यक्ति की अवधारणा: **आनंद प्रकाश** 13

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 2

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 3

संपादकीय

संचार क्रांति ने मीडिया के क्षेत्र में विस्तार की अनंत संभावनाएं पैदा की हैं। एक तरफ नये-नये न्यूज चैनल खुलते गए हैं तो दूसरी तरफ नये अखबार और पुराने अखबारों के नये-नये संस्करण लगातार सामने आ रहे हैं। ऐसे में दर्शकों व पाठकों की यह अपेक्षा स्वाभाविक मानी जाएगी कि मीडिया उन्हें हर छोटी-बड़ी खबर से न केवल अवगत कराएगा बल्कि उसका फॉलोअप भी पेश करता रहेगा। लेकिन वास्तव में क्या मीडिया ऐसी भूमिका का निर्वाह कर रहा है? स्पष्ट है कि नहीं। आज बड़ी से बड़ी या बेहद महत्त्वपूर्ण खबर की उम्र भी एक-दो दिन से ज्यादा नहीं दिखती। जो खबरें सुर्खियां बनती हैं उन्हें अगले दिन प्राथमिकता सूची में बहुत नीचे ठेल दिया जाता है। और आमजन के हितों से जुड़ी तमाम खबरों का तो संज्ञान ही नहीं लिया जाता। किसान-मजदूरों की पीड़ा को वाणी देने का दायित्व तो मीडिया काफी पहले ही भुला चुका है। उनसे संबंधित कोई खबर आती भी है तो उसमें सरोकार कम चौंकाने का भाव ज्यादा रहता है। जो मीडिया कभी आम आदमी, गरीब-मजदूर और वंचित तबके की समस्याओं को प्रमुखता से पेश करता था, उसकी रुचि अब सनसनी फैलाने और ग्लैमर परोसने में ज्यादा दिखती है। लेकिन सवाल है कि इन स्थितियों के लिए क्या सिर्फ मीडिया ही जिम्मेदार है, दर्शकों-पाठकों की कोई भूमिका नहीं है?

दरअसल, मीडिया अपनी प्राथमिकताएं जनरुचि को ध्यान में रखकर तय करता है। वह कितना भी 'प्रोफेशनल' क्यों न हो जाए लेकिन अपने सामाजिक दायित्वों की अनदेखी नहीं कर सकता। क्या यह सच नहीं है कि हमारा समाज ही बदल गया है, हमारे जीवन मूल्य बदल गए हैं। और इस बदलाव में मध्यवर्ग की प्रमुख भूमिका है क्योंकि वह खुद बहुत बदल गया है। वह मध्यवर्ग जो सामाजिक दायित्वों व सरोकार का सबसे बड़ा पैरोकार था, आमजन के हितों को वाणी देता था और उसके पक्ष में जनमत तैयार करता था, वही बदल गया है। इस मध्यवर्ग को कभी अपनी गरीबी और संघर्ष पर गर्व था, गरीब-वंचित तबके के दुःख उसे परेशान करते थे लेकिन अब शायद ऐसा नहीं रहा। उसे अपनी बेहतरी और 'सब कुछ' हासिल करने की जल्दी में सनसनी, ग्लैमर व सफलता की मनगढ़ंत कहानियां ज्यादा मुफीद लगती हैं। भारतीय परंपरा व मूल्यों को आदर्श कहने से वह चूकता नहीं लेकिन विकसित देशों के 'खुलापन' और वहां से आयातित संस्कृति में रच-बस जाना ही उसका सपना है।

मध्यवर्ग के नीचे का जो तबका या समाज है उसकी आशा-आकांक्षा हमेशा मध्यवर्ग से जुड़ी रहती है। वह भी वही सब कुछ हासिल करना चाहता है जो मध्यवर्ग के पहुंच के दायरे में दिखता है। ऐसे परिदृश्य में मीडिया की कार्यप्रणाली और उसके द्वारा दिखाए जा रहे कार्यक्रमों का उद्देश्य आसानी से समझ में आ जाता है। आखिर उसे भी अपने खर्चों को पूरा करने के लिए राजस्व जुटाना होता है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को भी टीआरपी की फिक्र रहेगी ही। ऐसे में सामग्री या कार्यक्रमों के स्तर में गिरावट के लिए सिर्फ मीडिया को दोषी ठहराना उचित नहीं। वैसे भी जनरुचि की आड़ लेकर मीडिया कभी भी सरोकार से पूरी तरह कट नहीं सकता। आज भी कई टीवी चैनल और अखबार आमजन के हितों से जुड़े मुद्दे प्रमुखता से उठा रहे हैं। इधर कुछ संपादकों ने मीडिया द्वारा पेश की जा रही सामग्री की गुणवत्ता में सुधार के लिए 'स्व-सुधार' की बात कही है। ऐसे में उम्मीद है कि आने वाले समय में मीडिया से न केवल हमारी शिकायतें कम होंगी बल्कि उसका और भी व्यापक और सार्थक विस्तार होगा।

मनीषी साहित्यकार सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की जयंती सात मार्च को पड़ती है। 'पुस्तक वार्ता' के इस अंक का प्रारंभ हम उनके स्मरण से कर रहे हैं। आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतजार है...

विमल झा

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 4

अज्ञेय के लेखन में व्यक्ति और समाज का द्वंद्व

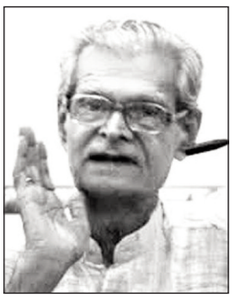

■ नित्यानंद तिवारी

आधुनिक हिंदी कविता, कहानी, आलोचना, निबंध और कुल मिलाकर स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य की वैचारिकी को मजबूत धरातल पर लानेवाले लेखकों में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम अग्रणी है। प्रस्तुत है अज्ञेय के व्यक्तित्व और लेखन पर सुप्रसिद्ध आलोचक **नित्यानंद तिवारी** से **शशिकांत** की बातचीत:

अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में लिखा था- 'अब समाज का ढंग ही नहीं बदला, समाज ही बदल गया है।' यह बहुत गहरी बात है। अज्ञेय के 'समाज ही बदल गया है' को हम अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और संस्कृति से जोड़कर देखते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो एक नया समाज बन रहा था उसे अज्ञेय देख रहे थे।

अज्ञेय जी से कभी आपकी मुलाकात हुई है? सबसे पहले उस मुलाकात के बारे में बताएं।

अज्ञेय जी से मेरी व्यक्तिगत तौर पर आठ-दस बार मुलाकात हुई है। एक बार वे इलाहाबाद आए हुए थे। वे नया कटरा में मुकुल दास के यहां रुकते थे। मैं और दूधनाथ सिंह उनसे मिलने गए। वे बातें कम करते थे लेकिन उन्होंने हमसे थोड़ी बातचीत की। जब हम पहुंचे तो वे चुपचाप बैठे थे। लेकिन उनकी चुप्पी में तिरस्कार भाव नहीं था कि अब तुमलोग चले जाओ। यह उनकी मुखाकृति और उनकी आंखों से समझा जा सकता था। मैं तब बी.ए. में था। 'परिमल' का सदस्य बन गया था। दूधनाथ सिंह एम.ए. में थे।

उसके बाद एक बार वे दिल्ली आ रहे थे। उनके साथ रामस्वरूप चतुर्वेदी और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना भी थे। जनता गाड़ी (ट्रेन) से आ रहे थे। हमलोग भी दिल्ली आ रहे थे। रास्ते में खाना खाते समय बार-बार वे रामस्वरूप चतुर्वेदी से कहते थे, 'नित्यानंद को भी दे दो।' इतने बड़े साहित्यकार के साथ एक ही कंपार्टमेंट में यात्रा करना और खाना खाते वक्त मिलकर अच्छा लगा।

फिर यहां दिल्ली में मोतीबाग में उनके घर पर भी गया। लेकिन कभी उन्होंने खुलकर बातचीत नहीं की। वे बातचीत कम करते थे। एक बार एक गोष्ठी में लंबी कविता पर बहस थी। वे अध्यक्षता कर रहे थे। मैंने एक निबंध लिखा था। उसे उन्होंने अपनी पत्रिका 'नया प्रतीक' में छापा। हालांकि वे धीरे-धीरे मेरे बारे में जान गए थे कि यह मेरी विचारधारा के अनुरूप नहीं है। लेकिन फिर भी उन्होंने कभी मेरे साथ प्रतिकूल व्यवहार नहीं किया।

'परिमल' के साथ अज्ञेय का कैसा संबंध था?

परिमल वालों के लिए वे बहुत बड़े 'आइकॉन' थे। वे अक्सर 'परिमल' के दफ्तर आते रहते थे। इलाहाबाद में जब भी वे होते थे तो 'परिमल' आकर लेखकों से जरूर मिलते थे।

आप 'परिमल' से जुड़े थे। आप कह रहे हैं कि अज्ञेय भी परिमल वालों के काफी करीब थे। लेकिन अज्ञेय और 'परिमल' से जुड़े लेखक साहित्य की अलग-अलग धाराओं में रचनारत थे। आज आप अज्ञेय के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा को किस रूप में देखते हैं?

वह साहित्य जिसे 'नया साहित्य' कहते हैं उसमें अज्ञेय का व्यक्तित्व नेतृत्वकारी है। जो नेता होता है उसके संगठन या उसकी विचारधारा के संबंध में जो सवाल उठाए जाते हैं, वह उन सवालों के तर्क देता है, उन्हें उठाता है और उन सवालों का सामना करता है जो अज्ञेय ने किया। और ऐसा किसी ने नहीं किया।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी के साहित्यिक लेखन और चिंतन को अज्ञेय ने किस रूप में

प्रभावित किया?

अज्ञेय ने साहित्य के क्षेत्र में विवाद और संवाद का नया माहौल पैदा किया। माहौल तो पहले भी था- छायावाद में भी, लेकिन यह बिल्कुल नया माहौल था। इसकी जलवायु बिल्कुल भिन्न थी। परंपरा, इतिहास, व्यक्ति, समाज, भाषा, शिल्प, नैतिक और साहित्यिक दायित्व सभी धरातल पर नवता को जो सांस्थानिक मूल्य और संस्थाएं रूंध रही थीं, उनका सामना करना और उन पर चोट करना अज्ञेय का प्राथमिक कार्य बना। उस दौर के लगभग सभी रचनाकारों की भूमिका यही थी, भले वे किसी भी भिन्न दृष्टि या विचारधारा को मानने वाले थे।

अज्ञेय व्यक्ति और समाज के द्वंद्व के बीच व्यक्ति को ज्यादा तरजीह देनेवाले रचनाकार हैं। एक अध्यापक के तौर पर आप अज्ञेय के व्यक्तिवादी चिंतन की लगातार आलोचना करते रहे हैं। अध्यापन से सेवानिवृत्ति के 10-12 साल बाद आज आप अज्ञेय के चिंतन और उनके साहित्य को किस रूप में देखते हैं?

मैं आज भी गहरे तौर पर अज्ञेय को नेतृत्वकारी व्यक्तित्व मानता हूं। मेरे खयाल से उनका पूरा का पूरा चिंतन गहरे स्तर पर समाज से जुड़ा हुआ है। हालांकि अंग्रेजी शिक्षा और ज्ञान से भारतेंदु युग में भी एक आधुनिक समाज बन रहा था। छायावाद काल तक हम इसे देख सकते हैं। लेकिन अज्ञेय ने जब लिखना शुरू किया तब अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में ढली एक पीढ़ी सामने आ चुकी थी। वह सिर्फ अंग्रेजी पढ़ी-लिखी पीढ़ी नहीं थी। यहां 'अंग्रेजी प्रणाली' पर मेरा ज्यादा जोर है। आजादी के बाद अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में में ढली हुई या ढलती हुई एक पीढ़ी उनके सामने थी। उस पीढ़ी के नेतृत्व में अंग्रेजी शिक्षा और ज्ञान के माध्यम से एक अंग्रेजी समाज बन रहा था। नौकरीपेशा मध्यवर्ग का एक रूप अस्तित्व में आने लगा था।

अज्ञेय ने अपनी पहली पुस्तक 'त्रिशंकु' में साहित्य को समाज से जोड़ा था। उन्होंने लिखा

था- 'अब समाज का ढंग ही नहीं बदला, समाज ही बदल गया है।' यह बहुत गहरी बात है। समाज का ढंग तो बदलता रहा था। आधुनिक युग में भारतेंदु युग से छायावाद तक समाज का बदलाव हम साफ-साफ देख सकते हैं। लेकिन अज्ञेय के 'समाज ही बदल गया' कथन को जब हम अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और संस्कृति से जोड़कर देखते हैं तो पता चलता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो एक नया समाज बन रहा था उसे अज्ञेय देख रहे थे। और महज 21 साल की उम्र में देख रहे थे।

वैश्विक स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और भारत में आजादी के एक-दो दशक बाद यहां के समाज में ऐसा कौन सा सामाजिक परिवर्तन हुआ जिसने युवा अज्ञेय को रचना और आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद की मुख्य धारा से अलग राह पर चलने के लिए प्रेरित किया?

मैंने पहले कहा है कि अज्ञेय ने जब लिखना शुरू किया तो उस वक्त अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और संस्कृति से प्रभावित एक नया समाज बन चुका था। अज्ञेय ने इसे देख लिया था। 'गैंग्रीन' और 'रोज' जैसी कहानियों में उन्होंने स्त्री और पुरुष के संबंधों के बीच जो सूनापन या खालीपन आ रहा था उसको देखा था।

दरअसल स्त्री-पुरुष संबंधों में आ रहे सूनेपन या खालीपन की पहली अभिव्यक्ति है उनकी कहानी 'रोज'। उन दिनों स्त्री-पुरुष संबंधों को उनका इस तरह देखना और पहचानना क्रांतिकारी था। भारत में अंग्रेजी प्रणाली से जो नया समाज बन रहा था, वह मध्य वर्ग का था। उसमें पति और पत्नी दोनों नौकरी करने बाहर जाया करते थे। 'रोज' कहानी में भी नौकरी करने घर से बाहर जानेवाला एक दंपति पहाड़ पर रहता है। उस दंपति के जीवन में रोजमर्रापन और सूनापन बढ़ता जा रहा है। यह पूरी की पूरी कहानी बल्कि कहूं तो उनकी सभी कहानियां सामाजिक दृष्टि से बहुत ही प्रामाणिक तथ्यों के अधार पर लिखी गई हैं। इस लिहाज से उनकी लगभग सभी कहानियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

उनकी 'गैंग्रीन' कहानी भी हिंदी की 'क्लैसिक' कहानियों में है। उनकी यह पहचान अन्यतम है। इसके माध्यम से अज्ञेय ने बदले या बदलते हुए भारतीय समाज को जिस तरह से देखा, उनका यह 'देखना' विशेष था। यहां मैं कहना चाहूंगा कि 'देखना' भी क्रांतिकारी होता है। व्यक्ति के द्वंद्व को समाज के साथ जोड़कर उनका देखना महत्वपूर्ण था, प्रतिनिधित्वकारी और क्रांतिकारी भी। लेखक लड़े या न लड़े समाज के भीतर की कोई सच्चाई यदि वह देखता है तो वह क्रांतिकारी है। इस आधार पर अज्ञेय एक क्रांतिकारी लेखक थे। हां, किसी विचारधारात्मक आधार पर उनके इस विचार का अवमूल्यन संभव है।

अज्ञेय के नेतृत्वकारी उभार को आप किस रूप में देखते हैं?

मैं अज्ञेय के नेतृत्वकारी रूप का उभार भारतीय समाज में महत्वपूर्ण मानता हूं। उनके संगठन की योजना, विचार और मानसिकता की प्रस्तावना जैसे एक आंदोलनकारी भूमिका में साहित्य को ले आना- ये सब अज्ञेय में था। प्रयोगवाद को खुद वे नहीं मानते थे। अपनी पत्रिका के लिए

उन्होंने बहुत से कवियों की रचनाएं मंगवाईं लेकिन उनके अंदर का संपादक-मानस मानता था कि प्रयोग एक प्रतिमान है और उसी के आधार पर वे कविताओं का संकलन प्रकाशित कराना चाहते थे। उन्हीं कविताओं को उन्होंने पत्रिका के लिए चुना जिनमें प्रयोगशीलता, भिन्नता और विविधता थी। यानी प्रयोगशीलता, विविधता और भिन्नता को उन्होंने बहुत महत्त्व दिया। विविधता और भिन्नता को महत्त्व देना बहुत बड़ी बात थी, क्योंकि वास्तव में वे मूलत: प्रयोगधर्मी सवभाव के थे।

अज्ञेय और मुक्तिबोध बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में हिंदी साहित्य की बिल्कुल दो विपरीत धाराओं का प्रतिनिधित्व करते थे। आज नव साम्राज्यवाद, भूमंडलीकरण, बाजारवाद और सांप्रदायिक राजनीति के दौर में इन दोनों रचनाकारों को आप किस रूप में देखते हैं?

अभी पिछले दिनों अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर और नागार्जुन की एक साथ जन्मशती मनाई गई। इतिहास ने इन चारों आधुनिक कवियों को एक मोर्चे पर ला दिया था। मुझे ऐसा आभास होता है कि इतिहास ने इन चारों कवियों को उस प्वाइंट पर इकट्ठा किया कि जो भी मनुष्य विरोधी और सड़ा-गला स्ट्रक्चर (संरचना) है उसको तोड़ो और मनुष्य के पक्ष में अपनी अनुभूति और अपने विचारों का निर्माण करो।

अज्ञेय वैयक्तिक स्वाधीनता के लिए प्रतिबद्ध हैं। अन्य तीनों कवि भी अपने विचारों और अपने अनुभवों को आधार बनाकर मनुष्य विरोधी संरचनाओं के खिलाफ लिखने के लिए प्रतिबद्ध हैं। हालांकि अज्ञेय और दूसरे अन्य कवि दो अलग-अलग विचारधाराओं के माननेवाले थे लेकिन इतिहास ने इनको एक बिंदु पर खड़ा कर दिया कि जो भी पुराना आ रहा है या हमारे जीवन पर दबाव डाल रहा है, उन सबके खिलाफ लड़ने का एक मोर्चा बनाया जाए। हम देखते हैं कि छायावाद में भी एक मोर्चा है और उससे भी पहले भारतेंदु युग में भी

हिंदी कहानी में 'गैंग्रीन' क्लासिक है। इस कहानी के माध्यम से अज्ञेय ने बदले या बदलते हुए भारतीय समाज को जिस तरह से देखा, उनका यह 'देखना' विशेष था। यहां मैं कहना चाहूंगा कि 'देखना' भी क्रांतिकारी होता है। समाज के साथ व्यक्ति के द्वंद्व को उनका 'देखना' विशेष था, प्रतिनिधित्वकारी और क्रांतिकारी भी। लेखक लड़े या न लड़े समाज के भीतर की कोई सच्चाई यदि वह देखता है तो वह क्रांतिकारी है।

मोर्चा बना। मोर्चा को विवेक भी कह सकते हैं। समय विशेष में मोर्चा बनाकर लड़ना अनिवार्य हो जाता है। आज के समय की चुनौतियों को जब हम देखते हैं तो समझ में आता है कि अज्ञेय से लेकर मुक्तिबोध तक को इतिहास ने एक ऐसे मोर्चे पर ला कर खड़ा कर दिया था जहां वे एक-दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे के सहयोगी थे। इन सभी कवियों ने जो भी पुराना स्ट्रक्चर था- चाहे वह भावना के स्तर पर हो या अनुभव के स्तर पर या विचार के स्तर पर- उसे तोड़ने का बीड़ा उठाया। इस संदर्भ में अज्ञेय की एक कविता है- 'आज तुम शब्द न दो' :

'आज तुम शब्द न दो, न दो,
कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो अभ्रभेदी
शिलाखंडों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो।
तुम्हारे रंध्र-रंध्र से तुम्हीं को
रस देता हुआ फूटकर मैं बहूँगा।
तुम्हीं ने दिया यह स्पंद।
तुम्हीं ने धमनी में बाँधा है लहू का वेग
यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब कुछ है,
तुम धृति पारमिता,
जीवन के सहज छंद
तुम्हें पहचानता हूँ
माँगो तुम चाहे जो, माँगोगे दूँगा;
तुम दोगे जो मैं सहूँगा
आज नहीं, कल सही
कल नहीं, युग-युग बाद ही :
मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।
मेरा भाव यंत्र? एक मढ़िया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान-
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।
आज नहीं, कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाए यह आग
मैं रहूँगा?
आज तुम शब्द न दो, न दो कल भी मैं
कहूँगा।'

यह कविता उस समय की रचनात्मक ऊर्जा और उस समय के साहित्यिक लेखन का केंद्रीय स्वभाव है। इस कविता में हम देखते हैं कि निर्झर की तरलता और पर्वत के शिलाखंडों की गरिष्ठता को रूपक में बांध कर अज्ञेय ने परंपरा के बारे में कहा है कि वह ऊंची और मूल्यवान है। जिस समाज को अज्ञेय ने देखा था अंग्रेजी संस्कृति में ढला वह समाज हमारा भारतीय समाज नहीं था। इसके कारण समाज में एक दूरी आ गई थी। परंपरा को इस नए समाज के आलोक में व्याख्यायित करना अनिवार्य हो गया था। अगर हम परंपरा और उस पुराने समाज के बीच होते तो ऐसे सवाल ही पैदा नहीं होते ।

कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध के माध्यम से अज्ञेय ने सृजनशीलता को नए सिरे से परिभाषित करने की कोशिश की। क्यों और कैसे?

अज्ञेय का मानना था कि सृजनशीलता अवरुद्ध है। अलग-अलग 'डायमेंशन' में इस सृजनशीलता के स्रोतों की पहचान अलग-अलग है। यहां अज्ञेय और दूसरे कवियों का भी बल 'पहचान' पर है। इस 'पहचान' के बिना संवेदना नहीं बनेगी। इन रचनाकारों ने पहचान पर बल दिया, भाव पर नहीं। अज्ञेय ही नहीं, बल्कि मुक्तिबोध और अन्य कवि भी मानते थे कि भाव कविता के लिए अपर्याप्त है।

भक्ति काव्य के बाद हिंदी कविता में पहली बार पहचान और भाव की अपर्याप्तता को इतने निर्णयात्मक रूप से अनुभव किया गया। इस संकट की अनिवार्यता की प्रकृति समान थी। इसे थोड़ा कम करके कहें तो पूंजीवादी, मार्क्सवादी, मानवतावादी- सभी मानते थे कि अगर यह हस्तक्षेप नहीं होगा तो न सही विचार पैदा होगा और न भाव का नया संगठन होगा। विचारधारा के बिना अधिकतम पहचान क्या संभव है? भक्तिकाल में कठिन वैयक्तिक प्रसंग में भी यह कभी-कभी कौंधता है।

अगर यह हस्तक्षेप नहीं होगा तो उसके बिना न विचार पैदा होगा न भाव का निर्झर और न निर्झर की तरलता। पर्वत के शिलाखंडों की गरिष्ठता को लेकर अज्ञेय ने ऐसा रूपक बांधा है जिसमें परंपरा ऊंची और मूल्यवान है।

परंपरा को अज्ञेय किस रूप में देखते थे?

दरअसल जिस समाज को अज्ञेय ने देखा था उसमें परंपरा और समाज के बीच एक दूरी बन गई थी। परंपरा पर नए-नए सवाल उठाए जाने लगे थे। नए समाज के संदर्भ में परंपरा को व्याख्यायित किया जाने लगा था। लेकिन ये सारे सवाल पैदा ही नहीं होते यदि पुरानी परंपरा और नए समाज के बीच हम होते।

अज्ञेय का मानना था कि सृजनशीलता अवरुद्ध है। अलग-अलग 'डायमेंशन' में इस सृजनशीलता के स्रोतों की पहचान अलग-अलग है। यहां अज्ञेय और दूसरे कवियों का भी बल 'पहचान' पर है। इस 'पहचान' के बिना संवेदना नहीं बनेगी। इन रचनाकारों ने पहचान पर बल दिया, भाव पर नहीं। अज्ञेय ही नहीं बल्कि मुक्तिबोध और अन्य कवि भी मानते थे कि भाव कविता के लिए अपर्याप्त है।

अब सवाल यह भी था कि विचारधाराओं के निहितार्थ उनकी तुलना होने लगी थी। इस आधार पर दार्शनिक स्तर पर विश्वसनीय वातावरण का अनुभव चाहिए।

नयी कविता में आसपास के छोटे-छोटे दुख-सुख ज्यादा सच्चे रूप में सामने आ रहे थे। उन कविताओं में आकाश चाहे जितना छोटा हो लेकिन वह मुक्त और खुला था। यानी विजयदेव नारायण साही ने नयी कविता के बारे में जिस 'दार्शनिक विकलता' की बात कही वह अज्ञेय और उस दौर के सारे कवियों की रचनाओं में दिखाई देता है। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की कविताओं में भी दार्शनिक और बौद्धिक विकलता है। अज्ञेय में यह विकलता ध्यानात्मक है। 'अंधेरे में' और उस दौर की अन्य कविताओं को ध्यानपूर्वक पढ़कर यह समझा जा सकता है।

'मौन भी अभिव्यंजना है' - अज्ञेय ने लिखा है। आपके मुताबिक मौन के बारे में व्यक्तिगत तौर पर उनकी क्या राय थी?

वे मानते थे कि मौन सामाजिक समूह से लड़ाने-भिड़ाने वाला नहीं, आभिजात्य है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध की रचनाशीलता को आप किस तरह एक-दूसरे का पूरक मानते हैं?

अज्ञेय के लिए जो स्वतंत्रता और स्वायत्तता है, मुक्तिबोध के यहां वह स्वतंत्रता महत्त्वपूर्ण है। अज्ञेय मुक्तिबोध के 'रक्तालोकस्नात पुरुष' को व्यक्ति की लक्षणग्रस्त स्थितियों में देखते हैं। 'अंधेरे में' पढ़ते हुए मैं सवाल उठाना चाहता हूं कि क्या मुक्तिबोध और शमशेर की सृजनशीलता अनिवार्यत: व्यक्ति और व्यक्तित्व केंद्रित नहीं है? क्या समूह और समाज का अंत:करण नहीं होता? क्या रचना कोई मानवीय चित्र उपस्थित नहीं करती?

आप नयी कविता की सबसे बड़ी समस्या क्या मानते हैं?

नयी कविता की समस्या दार्शनिक बौद्धिकता है लेकिन स्पष्ट है कि जिस समूह के अंत:करण का जिक्र किया गया है वह व्यक्ति की दार्शनिक विकलता की है। उधर दो महायुद्धों के बीच का साहित्य संघर्षों में फंसा हुआ था। समग्र मानवीय स्थिति को चित्रित करना एक चुनौती थी। जैनेंद्र और अज्ञेय की रचनात्मकता अलग तरह की थी। उन्होंने संघर्ष का रचनात्मक उपयोग किया यानि एक व्यक्ति केंद्रित दर्शन होना चाहिए। यही उनकी नई पहचान है। यहां अज्ञेय की एक कविता का उदाहरण देना चाहूंगा जिसमें वे कहते हैं कि 'धूप, आकाश- सभी अपने-अपने गुण उदारता से मनुष्य को देते हैं।' इसी बिंदु पर मुक्तिबोध 'अंधेरे में' व्यक्ति को 'आत्मगत' देखते हैं और अज्ञेय 'मौन' को अद्वितीय मानते हैं। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 8

स्मरण

नई राहों के अन्वेषक: अज्ञेय

■ **चित्तरंजन मिश्र**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क:
प्रतिकुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स,
वर्धा-442001

व्यक्तित्व, सर्जना और चिंतन का जैसा प्रेरक और आश्चर्यचकित करने वाला विवेक और वैविध्य अज्ञेय के यहां है, हिंदी साहित्य के परिदृश्य में अन्यत्र दुर्लभ है। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना के साथ साहित्य की अन्य विधाओं में भी नए मानदंड स्थापित करने वाली रचनाओं का सृजन एक ओर तो क्रांतिकारी जीवन का वरण करते हुए अमर शहीद भगत सिंह को छुड़ाने का प्रयत्न, बम बनाते हुए गिरफ्तारी, दिल्ली जेल की काल-कोठरी, लाहौर किले और अमृतसर की हवालात में लगभग चार वर्षों का बंदी जीवन, असम-बर्मा फ्रंट पर सेना में नौकरी उनके अथक उद्यमी व्यक्तित्व का एक अलग ही आयाम है। इसके अलावा सप्तकों का संपादन, 'दिनमान', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'प्रतीक' जैसी पत्रिकाओं की शुरुआत, 'शेखर: एक जीवनी' जैसे उपन्यास की रचना और कविता की धारा को नवता से जोड़ने का, नई प्रतिभाओं को सामने लाने के लिए अनेक मंचों और संस्थाओं की स्थापना करते हुए नए जीवन स्थितियों में नई तार्किकता के साथ रचना और विचार के लगभग सभी पक्षों के बारे में विपुल साहित्य का सृजन अज्ञेय जैसे प्रतिभासंपन्न, विलक्षण-चिंतक के यहां ही एक साथ संभव हुआ है। सृजन के प्रति इतनी गहरी आस्था कि 'अपने-अपने अजनबी' की योके सोचती है- 'ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है- उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है'- यह महत्त्वपूर्ण उपपत्ति अज्ञेय के समूचे व्यक्तित्व, सृजन और चिंतन के केंद्रीय सरोकार की तरह है।

अज्ञेय ने अपने समय को उसकी संपूर्ण जटिलता, विवशता, वैज्ञानिकता, तार्किकता के साथ ही अपनी परंपरा में भी परखने का साहस दिखाया है। दरअसल, आधुनिकता अपने संपूर्ण भारतीय विवेक के साथ कहीं एक जगह मूर्त होती है तो वह अज्ञेय का ही चिंतन है।

अज्ञेय का सृजन और चिंतन विविधता के वैभव की उनकी अपरिहार्य नियति का ही प्रतिरूप है। उन्होंने मानवीय विवेक, गरिमा और चेतना की स्वाधीनता को निर्मित और प्रभावित करने वाले भाषा-व्यवहार के सभी संभव अनुषंगों को अपने विचार का विषय बनाया है, निश्चय ही शब्द की सत्ता और भूमिका इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है। उनके सिद्धांत-निरूपण में एक उत्तरदायी प्रबुद्ध संवेदनशील सर्जक की मानसिक यात्रा की उलझनें भी हैं, ठहराव भी हैं और लक्ष्य तक पहुंचने की हड़बड़ी दिखाए बिना लक्ष्य की सार्थकता के प्रति एक सतत जिज्ञासा भी है, जो इस मानसिक यात्रा को रुकने नहीं देती। अज्ञेय ने साहित्य, भाषा, संस्कृति, जीवन मूल्य, इतिहास-बोध, परंपरा, आधुनिकता, समाज, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, भारतीयता, यांत्रिकता, सूचना और संप्रेषण आदि विषयों पर, आधुनिक चेतना के साथ बदल रहे जीवन-द्रव्य को निर्मित और प्रभावित करने वाले संदर्भ में गहन विचार किया है। मानवीय व्यक्तित्व के आहत और क्षरित होने की स्थितियों पर जितनी उदग्रता और संयत प्रतिरोध अज्ञेय के चिन्तन में है वह अलग से अध्ययन और विश्लेषण का विषय है। स्वाधीनता और सर्जनात्मकता पर अत्यधिक बल देने के कारण नितांत तात्कालिकता में जीने और सोचने वालों के, जितने दुष्प्रचार और आक्रमणों का सामना अज्ञेय को करना पड़ा, उनकी निरर्थकता को बदले हुए समय ने स्वत: प्रमाणित कर दिया है और वे सब लोग अज्ञेय के संबंध में अब स्वयं अपनी स्थापनाएं बदल रहे हैं। एक समय में जो लोग व्यक्तिवादी कह कर उन्हें कोसते रहते थे, अब कह रहे हैं कि वे व्यक्तिवादी नहीं हो सकते। केदारनाथ सिंह जैसे मार्क्सवादी आस्था के प्रतिबद्ध प्रगतिशील कवि ने कहा है कि 'अज्ञेय को पढ़े बगैर आधुनिक कविता का मिजाज नहीं समझा जा सकता। जो लोग अज्ञेय के काव्य-योगदान को लेकर शंकाग्रस्त दिखाई देते हैं, वे अतीत के उस द्वंद्व में फंसे हैं जब अज्ञेय के साहित्य का मूल्यांकन साहित्येतर मानदंडों पर किया जाता था।' अज्ञेय पर लगाए गए व्यक्तिवाद के आरोपों के बारे में उनका कहना है, 'नदी के द्वीप' जैसी कविताओं और स्वयं अज्ञेय द्वारा 'व्यक्तिकता' जैसी शब्दावली के प्रयोग करने से ऐसी धारणा बनी थी। लेकिन अज्ञेय की

छब्बीस कविताओं वाली 'चकांत शिला' जैसी रचनाएं पढ़ कर इस धारणा के एकांगी होने की जानकारी भी की जा सकती है। 'उसी एकांत में घर दो/जहां पर सभी आवें/वही एकांत सच है/जिसे सब छू सकें/वही एकांत सच्चा है/जिसे छूने मैं चलूं तो पलट का टूट जाऊं', लिखने वाला कवि व्यक्तिवादी नहीं हो सकता। (जनसत्ता, नई दिल्ली 25 अक्टूबर 2011, पृष्ठ : 7)

अज्ञेय के साहित्य को छायावाद एवं प्रगतिवाद की सीमाओं के अनिवार्य अतिक्रमण के संदर्भ में देखना ज्यादा उपयुक्त होगा। छायावाद की अतिशय कल्पनाशीलता के बीच भावबोध की प्रधानता तथा प्रगतिवाद के राजनीतिक रुझान के भीतर जीवन-यथार्थ की संपूर्णता की अभिव्यक्ति संभव नहीं रह गई थी। नए जीवन-बोध और विश्व की नई परिस्थितियों में दम तोड़ रहे उपनिवेशवाद के साथ मनुष्य और भाषा के सलूक का बदलना स्वाभाविक था। इसी स्वाभाविक बदलाव को गति और दिशा देने की कोशिश में 'राहों के अन्वेषी' कवियों का जो संकलन 'तारसप्तक' के नाम से सामने आया उससे यह प्रतीत होने लगा कि नए युग की जटिल संवेदना को व्यक्त करने के लिए परंपरागत भाषा, छंद, प्रतीक, बिंब, अलंकार एवं ध्वनि-अब पूर्णतया समर्थ नहीं रह गए हैं।

नए वैज्ञानिक आविष्कारों, जीवन में तकनीक के बढ़ते हुए हस्तक्षेप, मशीनीकरण के बढ़ते प्रभाव ने मनुष्य के अस्तित्व और बोध के सामने भी कई तरह के सवाल खड़े किए, उसकी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता को नए तरह से खोजने और प्रमाणित करने की आवश्यकता का अनुभव हिंदी के रचनाकारों और विचारकों को भी हुआ। इस दिशा में सबसे गंभीर प्रयास का श्रेय अज्ञेय को है जिन्होंने 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में कहा 'एक समय था जबकि काव्य एक छोटे से समाज की थाती

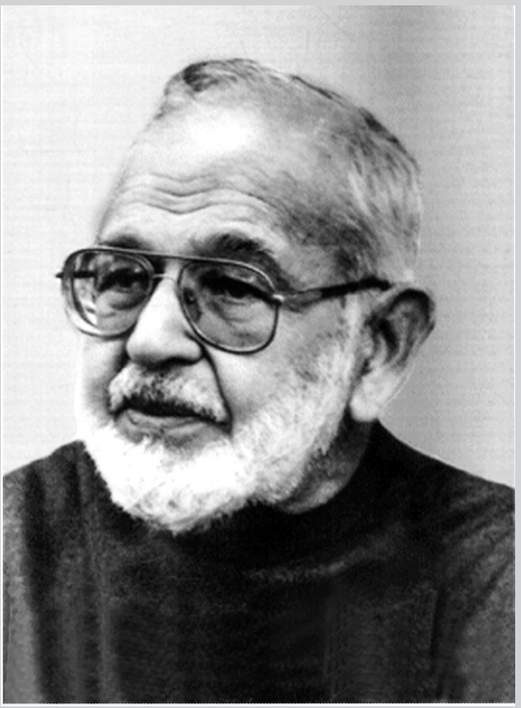

था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अत: उनकी विचार-संयोजनाओं के सूत्र भी बहुत कुछ मिलते जुलते थे- कोई एक शब्द उनके मन में प्राय: समान चित्र या भाव या विचार उत्पन्न करता था। इसका एक संकेत इसी बात से मिलता है कि आचार्यों ने काव्य-विषयों का वर्गीकरण संभव पाया, और कवि का मार्ग-दर्शन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसंग में अमुक-अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी। आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है, एक ही सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन परिपाटियां इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार-संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों, जिनसे दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों। यह आज के कवि की सबसे बड़ी समस्या है। यों समस्याएं अनेक हैं- काव्य विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुन:संस्कार की आदि-किंतु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है। साधारणीकरण और कम्युनिकेशन (संप्रेषण) की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है- शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं, वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है। इसी तरह उन्होंने बदली हुई जीवन-स्थितियों के संदर्भ में कवि-कर्म की चुनौतियों पर विचार करते हुए जीवन की जटिलता, स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्रगति, तथा कवि की उलझी हुई संवेदना का भी प्रश्न उठाया।

इस समूचे उद्धरण से गुजरते हुए हम अनुभव कर सकते हैं कि अज्ञेय का साहित्य चिंतन मूलत: एक काव्य-सर्जक का चिंतन है, इसलिए वह सामान्य विवरण जुटाने

वाले आलोचक की सूत्रबद्ध परिपाटी से अलग है। सृजनधर्मा विचारक जब सृजन की प्रक्रिया और उसकी जटिलताओं पर विचार करता है तो उसमें एक खास तरह का इन्वाल्वमेंट होता है जैसे कोई मां अपनी संतान के बारे में सोचती है और दूसरे लोग तो वैसे ही सोचेंगे कि जैसे किसी बच्चे के बारे में सोच रहे हैं- तो यह फर्क है, एक सर्जक के साहित्य चिंतन में और दूसरों के सोचने में। अज्ञेय का काव्य विवेक अपने पहले के काव्य विवेक से अलग है, इसीलिए वह प्रयोग है- विशिष्ट प्रयोग। यों तो हर रचना और हर विचार पहले से थोड़ा अलग और विशिष्ट होता ही है पर अज्ञेय ने अपने समय को उसकी संपूर्ण जटिलता, विवशता, वैज्ञानिकता, तार्किकता के साथ ही अपनी परंपरा में भी परखने का साहस दिखाया है। दरअसल, आधुनिकता अपने संपूर्ण भारतीय विवेक के साथ कहीं एक जगह मूर्त होती है तो वह अज्ञेय का ही चिंतन है। किंतु स्वयं एक ईमानदार सर्जक और विचारक के रूप में वे स्वीकार करते हैं कि 'आधुनिक युग का कोई भी संतोषजनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नहीं हो सकता। वह कई क्षेत्रों की कई प्रतिभाओं के अवदान और कई विषयों के शोध की उपलब्धियों का समन्वय मांगता है।' ('आत्मनेपद' से)

यह समन्वय आधुनिक चेतना और चिंतन की एक बड़ी उपलब्धि है। अज्ञेय के समूचे चिंतन और सर्जना व्यवहार को इस संबंध के सापेक्ष रखकर देखा जाना चाहिए। इसी समन्वय के आग्रही होने के कारण उनके समूचे सर्जना-व्यवहार में एक सतत जिज्ञासा निरंतर सक्रिय है। इसी कारण वे ऐसे साहित्य को महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो मनुष्य की चेतना को उदार और व्यापक बनाता है, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं कलात्मक मूल्यों के प्रति जागरूक करता है तथा किसी एक वाद या

अज्ञेय पारंपरिक काव्य विवेक के सबसे बड़े सिद्धांत- रस सिद्धांत को विनम्रतापूर्वक सकारात्मक ढंग से चुनौती देते हैं- उसे खारिज करने के लिए नहीं बल्कि नयी जीवनस्थितियों में कविता के बदलते हुए स्वर और स्वरूप को समझने के लिए। उनका मानना है कि भावग्रहण और रसग्रहण हर परिस्थिति में एक जैसा नहीं होता।

सिद्धांत के प्रति आग्रही बनाने के बदले उसको निर्भय, स्वाधीन विवेक से संपन्न और स्वतंत्रता के प्रति गहरी आस्था का सृजन करने वाला बनाता है। जो पाठक के भीतर गहरी प्रश्नाकुलता पैदा करता हो, जिससे जूझते हुए वह अपनी दृष्टि से मनुष्य को परख सके, संसार को समझ सके और व्यक्ति तथा समाज के नए रिश्ते को पहचान सके और साथ ही उसके भीतर एक नयी दृष्टि और नया विवेक निरंतर सक्रिय रह सके। इसी सक्रियता से वह संपूर्ण सत्य को ग्रहण कर सकता है और कोई रचनाकार उसे रागदीप्त करके सृजन को संभव कर सके। 'आत्मनेपद' में उन्होंने इसी तथ्य को स्पष्ट किया है - 'कला भी ज्ञान का एक प्रकार या क्रिया है अर्थात सत्य की उपलब्धि की एक साधना है, सुंदरता उसकी रागदीप्ति का उपकरण या साधन है।'

अज्ञेय पारंपरिक काव्य विवेक के सबसे बड़े सिद्धांत- रस सिद्धांत को विनम्रतापूर्वक सकारात्मक ढंग से चुनौती देते हैं- उसे खारिज करने के लिए नहीं बल्कि नई जीवनस्थितियों में कविता के बदलते हुए स्वर और स्वरूप को समझने के लिए। उनका मानना है कि भावग्रहण और रसग्रहण हर परिस्थिति में एक जैसा नहीं होता। एक ही अनुभव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न भासता है।

उनका कहना है कि अनुभूति एकरस नहीं है उसके शेड्स अलग-अलग वैरी करते हैं। तादात्म्य लोप है और कविता यदि लोप करती है तो उसका आधुनिक काम पूरा नहीं होता। कविता हमें बेचैन, प्रश्नाकुल और अनेकायामी भी बना सकती है। कविता के स्वभाव में परिवर्तन के अनेक कारणों में वे वाचिक की जगह पर लिखित और श्रोता की जगह पाठक के हो जाने को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि वाचिक कविता के श्रोता की प्रतिक्रिया तुरंत कवि के समक्ष ही प्रत्यक्ष हो सकती है। लिखित कविता के पाठक और रचनाकार को यह सुविधा या अवसर नहीं है। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण दायित्व आलोचक को निभाना पड़ रहा है, जो अधिकतर दायित्वहीन होता जा रहा है। इसलिए एक सर्जक के रूप में उन्होंने नए साहित्य के मूल्यांकन के सूत्र भी दिए। स्वीकार किया कि निरंतर बढ़ती हुई यांत्रिकता के दबाव में मनुष्यता की गरिमा, संवेदना और अस्मिता को बचाना भी साहित्य का दायित्व है।

अज्ञेय ने काव्य को अभिव्यक्ति से अधिक संप्रेषण माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'साहित्य दूसरे तक पहुंचता है, दूसरे तक पहुंचाता है। पहुंचने की, 'साहित्य की', अपना अतिक्रमण करने की और ममेतर की प्रत्यभिज्ञा की यह व्यग्रता एक बुनियादी साहित्यिक मूल्य ही नहीं, बुनियादी मानव-मूल्य भी है और बुनियादी सामाजिक मूल्य भी है। साहित्य के सरल

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 11

कर्म का यह सरल और सीधा साक्ष्य है।

अज्ञेय न तो सिर्फ भारतीय काव्य चिंतन पद्धति को स्वीकार करते हैं न पाश्चात्य परंपरा को ही विनत भाव से स्वीकार कर लेते हैं बल्कि वे आधुनिक जीवन की विसंगतियों, विडंबनाओं और जटिलताओं के सापेक्ष सबकी परख करते हुए किसी से भी आक्रांत हुए बिना अपने मतों को व्यक्त करते हुए खुद उनकी परख का भी मुक्त निमंत्रण देते हैं। साहित्य के संबंध में अज्ञेय ने अपनी सभी कृतियों में पर्याप्त विचार किया है। उनकी रचनाओं में सूत्र की तरह की भी कुछ बातें बहुत गंभीर ढंग से कही गई हैं जिनसे उनकी साहित्यिक मान्यताओं को समझने में आसानी होगी। 'त्रिशंकु' में उन्होंने लिखा है- 'सच्ची कला कभी-भी अनैतिक नहीं हो सकती। प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित है।'

अज्ञेय के इस कथन में कला की सोद्देश्यता का स्पष्ट उद्घोष है। इस कथन पर उन लोगों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए जिनकी सारी शक्ति यह प्रमाणित करने में लगी रही कि अज्ञेय की कला-चेतना जीवन-धर्मी नहीं है। 'आत्मनेपद' में उनका कथन है, 'वास्तव में अनुभूतियां और भावनाएं चमत्कारिक योग में युक्त होती हैं। काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।' अज्ञेय की यह स्थापना टी.एस. इलियट से प्रभावित लगती है। इलियट ने इसी तरह की स्थापना 'ट्रेडिशन एंड इंडिविजुवल टैलेंट' शीर्षक निबंध में की है। इस निबंध से अज्ञेय इतने प्रभावित थे कि उन्होंने इसका भावानुवाद 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक से किया जो 'त्रिशंकु' में संकलित भी है। 'ट्रेडिशन' के लिए 'परंपरा' की जगह अज्ञेय ने 'रूढ़ि' रखा और कहा कि रूढ़ि भी गतिशीलता की निष्पत्ति करती है। वे मानते हैं कि 'रूढ़ियां' जड़ता नहीं है, उनके दम पर साहित्य पलता-बढ़ता है। परंपरा के साथ अज्ञेय का रिश्ता आलोचनात्मक और सर्जनात्मक है। वे उसे इलियट की तरह अर्थ संकोच में नहीं रखते बल्कि अर्थ-विस्तार की ओर ले जाते हैं। शायद इसीलिए परंपरावादी उन्हें विद्रोही कहते रहे और अपने को विद्रोही मानने वाले परंपरावादी।

अज्ञेय के विचार से वास्तविक रचना एक तरह की आंतरिक विवशता की उपज होती है। 'साहित्य की प्रेरणा करने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आंतरिक विवशता है। साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती, कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति-उसकी आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता-उसे निश्चित करती है।' अज्ञेय के इस सिद्धांत को प्राय: सभी रचनाकारों ने स्वीकार किया है। अज्ञेय यह भी मानते हैं कि- 'साहित्यिक, कोई भी कलाकार, अनिवार्य रूप से अपनी परिस्थितियों का परिणाम होता है। वह अपने आस-पास ब्याप रहे संघर्ष का फल है।'

अज्ञेय की ये मान्यताएं उनकी सृजन एवं विचार-यात्रा में नई राहों के अन्वेषण की कुछ उदाहरण मात्र हैं जो यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि अज्ञेय न तो बने -बनाए सांचों में सोचते रहे और न ही वे कोई समाज निरपेक्ष एकांत साधक हैं। स्वतंत्रता के मूल्य को हर स्तर पर उन्होंने स्थापित करने की चेष्टा की है उसका आशय समाज निरपेक्षता के साथ जोड़ना उचित नहीं है। अज्ञेय की स्वतंत्रता की अवधारणा समाज के भीतर ही सक्रिय और गतिशील है। साहित्य का एक महान उद्देश्य विवेक का निर्माण करना भी है और विवेक की निर्मिति स्वाधीन सोच के बिना संभव ही नहीं होती है। शायद इसीलिए अज्ञेय ने 'कम्युनिजम' को एक अपूर्ण दर्शन माना और उसकी तुलना में लोकतंत्र को ज्यादा महत्त्व दिया। लोकतंत्र के बिना रचना तो संभव ही नहीं हो सकती।

उनकी सर्जना की विशेषता इसमें है कि वे स्थापित सत्य को अपनी साधना के द्वारा फिर से पहचानना चाहते हैं। इसीलिए उनका सत्य कमाया हुआ सत्य है। इसी सत्य को पाने के लिए पहले वे अपने को नि:शेष करते हैं, खाली करते हैं, सभी तरह की मान्यताओं और आग्रहों से मुक्त करते हैं अपने को, ताकि असली सत्य को पाया जा सके। वे कहते हैं- 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं' तथा

'मैं सभी ओर से खुला हूं
वन-सा अपने में बंद हूं
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छंद हूं।'

अज्ञेय उस दौर में मौन की अभिव्यंजना को प्रतिष्ठित कर रहे थे, जब साहित्य समाज में एक खास तरह का 'हल्ला बोल' चल रहा था, पिछलग्गूपन का आयतन बढ़ रहा था, दूसरों के सोचे और निकाले गए निष्कर्षों को रचना का विषय बनाने की पुरजोर कोशिशें हो रही थी। इस बाह्य दबाव के बढ़ते वर्चस्व की छाया में रचनाकार की निजता तथा अनुभूति को उपेक्षणीय समझे जाने के खतरों के बीच एक चिंतक सर्जक के लिए यह लगभग अनिवार्य हो गया कि वह सृजन और विचार को निजी अनुभूति से जोड़े और बार-बार अपने सत्य को पाने का आग्रह करे। जाहिर है कि इसके लिए स्वाधीनता न सिर्फ काम्य है बल्कि अपरिहार्य भी है इसलिए अज्ञेय स्वतंत्रता पर खास बल देते हैं, व्यक्तित्व की निजता पर भी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी। वे ऐसा साहित्य दर्शन विकसित करना चाहते हैं जिसमें अपने को भी फिर से रचना हो, रचते हुए उसे पाना हो, पाकर उसे सहेजना हो, और अपने को सहेजते हुए एक गौरव का अनुभव होता हो।

स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाले समाज के एक सजग सर्जक विचारक के लिए स्वतंत्रता यदि एक बड़ा मूल्य है तो

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 12

इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। एक स्वाधीन नागरिक विवेक ही एक स्वस्थ समाज की कल्पना और रचना कर सकता है। अनायास नहीं है कि अज्ञेय ने औपनिवेशिक समाज के भीतर स्वाधीनता की रक्षा और अस्मिता की पहचान के लिए सबसे अधिक महत्त्व भाषा को दिया। मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए अज्ञेय ने भाषा को अनिवार्य तत्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभूति है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने लिखा है- 'मैं उन व्यक्तियों में से हूं-और ऐसे व्यक्तियों की संख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है- जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि मानते हैं।'

अज्ञेय के लिए 'अच्छी भाषा' का तात्पर्य चमत्कारपूर्ण या अलंकृत भाषा नहीं है, उनके लिए भाषा की अच्छाई का मतलब ऐसी भाषा से है जो परिष्कृत होने के साथ अनुभूति से भी अद्वैत स्थापित करने में समर्थ हो। उनका यह मत मात्र भाषा के बारे में सिद्धांत-निश्चय तक सीमित नहीं है, बल्कि उनकी रचना-भाषा के संदर्भ में पूरी तरह चरितार्थ होता है। रचना-भाषा के बारे में विचार करते हुए भाषा-व्यवहार के सबसे समर्थ प्रयोक्ता 'कवि' के संदर्भ में उनका मानना है कि वह परंपरा को निरंतर नया रूप देता है और परंपरा में से कुछ को छोड़ता, कुछ को जोड़ता हुआ वह नया होता चलता है। वे कहते हैं कि 'कवि शब्द का संस्कार ग्रहण करता हुआ- और शब्द को निरंतर नया संस्कार देता हुआ- भाषा की रूढ़ि से मुक्त होता चले, शब्द के संस्कार बदलता भी चले और भाषा की रूढ़ि बदलता भी जाए और तोड़ता भी चले। हर अच्छा कवि यह करता है। यही भाषा का आर्ष प्रयोग है: जहां भाषा की रूढ़ि टूट गयी है; परंतु शब्द का संस्कार और समृद्ध हो गया है।'

एक विचारक और सर्जक के रूप में अज्ञेय भाषा के अवमूल्यन को लेकर भी अपनी गंभीर चिंताएं व्यक्त करते हैं। भाषा के बिना क्योंकि किसी भी सामाजिक या असामाजिक व्यवहार की कल्पना संभव नहीं है इसलिए भाषा का एक रूप 'फंक्सनल' या प्रयोजनमूलक भी है। मीडिया और राजनीति में भाषा के अवमूल्यन को चिंताजनक मानते हुए अज्ञेय इस चिंता को अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल एक गहराई देते हैं। समाज का कोई भी व्यवहार भाषा के बिना यदि नहीं चल सकता तो मीडिया और राजनीति को भाषा के अवमूल्यन से विरत कैसे किया जा सकता है। अज्ञेय का मानना है कि इन दोनों माध्यमों का आधुनिक समाज में आतंककारी प्रभाव है और दोनों भाषा के सहारे ही अपना संपूर्ण व्यवहार संचालित करते हैं- हां उनकी भाषा एक व्यवहारवादी भाषा होती है।

वे लिखते हैं- 'जिस आविष्कार को आज की भाषा में मीडिया कहा जाता है, जहां से उसका आरंभ हुआ है, जहां से व्यापक संचार माध्यमों का विस्तृत लोक संपर्क, प्रचार-विज्ञापन या मास-कांटेक्ट के लिए इस्तेमाल होने लगा, वहीं से भाषा का अवमूल्यन होता है। यह समस्या व्यवहार की नहीं है। यह उससे व्यापकतर समस्या का एक पहलू है।

भाषा का अवमूल्यन इसलिए होता है कि व्यापक जनसंपर्क के नाम पर हम वास्तव में कुछ अन्य चीजों का, या सही बात करें तो कुछ गहरे मूल्यों का अवमूल्यन कर रहे हैं। भाषा का अवमूल्यन हमारा लक्ष्य या कि उद्देश्य नहीं होता, उन मूल्यों का अवमूल्यन हमारा उद्देश्य नहीं होता, उन मूल्यों का अवमूल्यन हमारा उद्देश्य होता है या कि उद्देश्य नहीं भी होता, तो भी हम उसका अवमूल्यन जानते बूझते करते हैं।'

भाषा के सर्जनात्मक व्यवहार के बारे में अज्ञेय ने निरंतर विचार किया है और उसे रचनाशीलता के उत्स के रूप में स्वीकार किया है। कवि की सतर्कता के लिए जो भी प्रमाण होने चाहिए अज्ञेय शब्द-व्यवहार की सतर्कता को उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। शब्द के संस्कार को, वे कविता का आवश्यक गुण धर्म मानते हैं। तीसरा सप्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है- 'प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है-यही उसका कल्प है। नए कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं।'

अज्ञेय ने भाषा को मनुष्य की स्वाधीन विवेक चेतना का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव स्वीकार किया, उसे स्वाधीन समाज की स्वाधीनता को बचाए रखने का एक अनिवार्य और अपरिहार्य उद्यम भी माना। 'परायी भाषा में कोई समाज अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता' जैसा दर्शन विकसित किया। भाषा के सर्जनात्मक व्यवहार और इसके इतर व्यवहारवादी प्रयोगों पर भी विचार किया। एक रचनाकार के रूप में भाषा संबंधी अपनी मान्यताओं और आग्रहों को सिर्फ विचार और सिद्धांत विवेचन तक सीमित नहीं रखा बल्कि उसे अपनी सर्जना-प्रणाली में आत्मसात भी किया।

उनके चिंतन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को सामने लाना अपनी स्वाधीनता, अपना विवेक, अपनी मूल्य चेतना और अपनी संस्कृति को समझने और उसकी गतिशीलता को बचाए रखने के लिए बहुत जरूरी है। बीसवीं शताब्दी की दुनिया की गति और उसमें मनुष्य की नियति को पहचानने के लिए, नई जीवन स्थितियों में साहित्य, सर्जना, चिंतन और नए प्रश्नों से टकराने का जो अनवरत भाव अज्ञेय के यहां विद्यमान है वह उन्हें हमारे समय और नई जीवन प्रणाली में साहित्य-संवेदना के एक नए भाष्यकार के रूप में महत्त्वपूर्ण बनाता है। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 13

'नदी के द्वीप' में व्यक्ति की अवधारणा

■ **आनंद प्रकाश**
समाज मनोविज्ञानी

संपर्क: प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

'नदी के द्वीप' पढ़ते समय यह कचोट हमेशा बनी रही कि वह क्या था जो इन पात्रों को ऐसा निर्मित कर गया। कैसे बने ये सारे पात्र। कहां था उनका बचपन। कैसी थी उनकी पृष्ठभूमि और उनके ऐसे निर्माण के तत्व क्या थे?

'नदी के द्वीप' 1951 में सरस्वती प्रकाशन से छपा अज्ञेय का वह उपन्यास है जिसने मुझे छात्र जीवन में बहुत प्रभावित किया था। उसके प्रभाव को मैंने लंबे समय तक महसूस किया। संभवत: इसी कारण से इस उपन्यास में व्यक्ति की अवधारणा पर लिखने का मैंने मन बनाया। यह अपने अंदर ठहरे उसके 'प्रभाव' को समझने का आग्रह भी था। कैसे लेखकीय निर्मितियां कुछ यथार्थता और वांछनीयता से मिलकर बनती हैं, इससे एक पाठक के साथ सहज ही कहां-कहां का रिश्ता बन जाता है, कहां पर लेखकीय पात्रों को ढोना पड़ता है, ये सब सवाल मन में थे। कैसे लेखन कुछ जीया हुआ, कुछ जी न पाने का मलाल दोनों से बनता है, इसको भी जांचने-परखने का सवाल उपस्थित था। विशेष रूप से उत्तरआधुनिक विमर्श के इस प्रवाह में अर्थ की सत्ता जब पाठक के द्वारा दी जाती हो, वहां पर 'नदी के द्वीप' उपन्यास को फिर से पढ़ना पहली बार पढ़ने से ज्यादा सुखद रहा और कुछ नए अर्थ उभर आए।

साहित्य और मनोविज्ञान का रिश्ता बहुत गहरा है, यह कहने की बात नहीं है। 'नदी के द्वीप' उपन्यास में चार महत्वपूर्ण पात्र हैं, जिनके द्वारा उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। ये चारों पात्र अलग-अलग सामाजिक और मनोवैज्ञानिक बनावट के हैं। इनमें से तीन- भुवन, गौरा और रेखा मनोवैज्ञानिक स्थूलता के स्तर पर एक समान नजर आते हैं। उनमें मानवीय संबंधों के प्रति साझे के मूल्य हैं। सिर्फ चंद्रकांत एक-सी सामाजिक पृष्ठभूमि के बावजूद अपने मूल्यबोध में ज्यादा स्थूल या अपरिष्कृत है, जो जीवन को भोगने वाले भाव से ज्यादा संचालित है। इन तीनों की तुलना में यह शायद कम परिष्कृत एक आम शहरी सोच का आदमी है, जिसमें चीजें अपनी सुविधा से चलाने का हुनर है। इन लेखकीय निर्मितियों में पात्रों में 'व्यक्ति की अवधारणा' संभवत: अज्ञेय के लेखन का वैशिष्ट्य भी हो सकता है।

इस उपन्यास की कथा में दो प्रमुख स्त्री पात्र और दो पुरुष पात्र हैं जिसमें सिर्फ गौरा ही वय में सबसे कम है। बाकी दो-चार के अंतर वाले हैं। सबमें बहुत उदारवादी और संबंधों को बहुत संभालकर ले जाने वाला भाव है। सब बहुत ही विवेकपूर्ण आचरण करने वाले पात्र हैं, जो कहीं भी अपना विचार थोपते नहीं हैं लेकिन अपने भिन्न विचारों को संजीदगी से प्रकट जरूर करते हैं। हर व्यक्ति की अपनी निजी जगह है और वह जगह स्व-नियंत्रित एवं मानवीय संवेदनाओं की चेतना से भरपूर है। इनकी साझे की जगहों में भी उसी को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उपन्यास के तीन पात्र भुवन, गौरा और रेखा निजता से साझेदारी और निजता से विराटता में अपनी-अपनी मनोवैज्ञानिक शैली के हिसाब से व्यवहार करते दिखाई पड़ते हैं। वह आधुनिकता और परंपरा, बंधन और मुक्ति, अपूर्णता से पूर्णता के संघर्ष में लीन दिखाई देते हैं व अपनी निजता की लगातार रक्षा करते हैं। संभवत: अपनी अलग पहचान को बनाए रखना, चाहे जो भी हो, कैसी भी स्थिति हो, एक महत्वपूर्ण अंतर्निहित कथा-सूत्र है, जो पूरे उपन्यास में दिखाई पड़ता है।

'नदी के द्वीप' पढ़ते समय लगता है कि इस निजता की रक्षा और पुष्टि के लिए लेखक इन चरित्रों से इतने प्रभावी दार्शनिक संवाद करवाता है कि जो एक ओर उनके संबंधों में निश्छलता दिखाता है, उनको मासूम महसूस कराता है, दूसरी तरफ वे इतने पढ़े-लिखे और संभले हुए दिखते हैं कि उन्हें समझना मुश्किल लगता है। इन पात्रों में व्यक्ति का स्वरूप एक ऐसे आदर्शवादी, बौद्धिक, रोमांटिक और निजता की रक्षा करने वाले व्यक्ति का है जो समाज से अलग तरह से टकराता है और अपने लिए पीड़ा और व्यथा रचता है। लेखक ने कई जगहों पर व्यथा को रचनाशीलता और सार्थकता की आवश्यक शर्तों में से

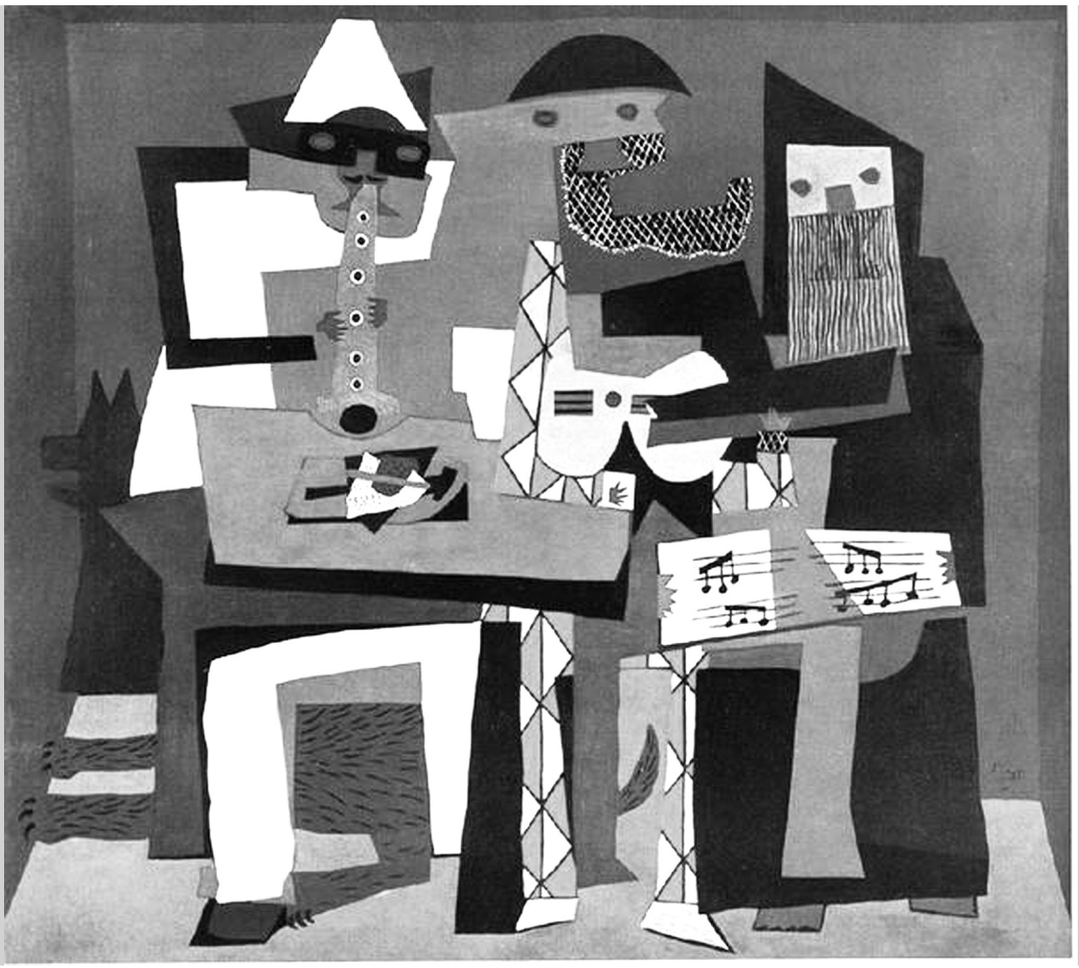

पाब्लो पिकासो की एक कलाकृति

एक माना है। शायद सुख की तलाश दुख और पीड़ा की वीथियों से गुजरती है अथवा सुरुचिसंपन्नता अपनी व्यथा संभालने की क्षमता से आती है।

'नदी के द्वीप' पढ़ते समय यह कचोट हमेशा बनी रही कि वह क्या था जो इन पात्रों को ऐसा निर्मित कर गया। कैसे बने ये सारे पात्र। कहां था उनका बचपन। कैसी थी उनकी पृष्ठभूमि और उनके ऐसे निर्माण के तत्व क्या थे। क्या यह तात्कालिकतावादी दार्शनिकता की अभिव्यक्तियों के प्रारूप पात्र थे। प्रयासपूर्वक या उपेक्षा से इन पात्रों के इतिहास की उपेक्षा की गई है ताकि पाठक उनको दिए गए कालखंड में एक अवतार की तरह मान लें और उनके युग-पुरुष होने पर कोई समीक्षात्मक चिंतन न कर सकें। ये बने-बनाए प्रोटोटाइप चरित्र हैं या फिर किसी के प्रतिनिधि हैं या विशिष्टता ही इनके निर्माण की वजह है। करीब-करीब 336 पृष्ठों (सरस्वती प्रकाशन, 1951) के संस्करण के हवाले से, एक पाठक के नाते यह उत्सुकता भरा प्रश्न निरंतर चलता रहा कि आखिर कैसे इन पात्रों का निर्माण किया गया होगा जिनमें विश्व युद्ध की लड़ाई में अपनी योग्यता को उपयोग में लाने की विराट चेतना भी है और एक स्त्री के प्रति आवेगपूर्ण प्रेम का निर्वाह नहीं कर पाने का अपराध बोध भी। दोनों को उसी शिद्दत से भोगता हुआ पात्र - उनकी लेखकीय निर्मिति को एकदम से अलग खड़ा कर देता है।

मनोविश्लेषणात्मक सोच के अनुसार निरंतर निजी इतिहास बोध के परे ये पात्र, जो वर्तमान में जीने की जरूरत महसूस करते हैं, वहां तात्कालिकता ही उनका यथार्थ है, वही पात्र एकदम से स्मृतियों के दंश से ग्रसित हो जाते हैं। यह स्मरण से परे है कि पाठक इस वर्तमान-अतीत के द्वंद्व में खुद को कहां खड़ा करे। क्या यह द्वंद्व उनके अवचेतन का वह सशक्त भाग है जो उनको वर्तमानवादी तो बनाता है पर उनको कभी वर्तमान में पूरी प्रामाणिक चेतना के साथ जीने नहीं देता है। हर क्षण एक संघर्ष है क्योंकि यही उसकी प्रेरणा भी है और यही उसकी विशिष्टता का निर्माण भी करती है। संभवत: अज्ञेय के लेखन का यह वैशिष्ट्य उनको अपने

समकालीन लेखकों से अलग खड़ा करता है, जहां उनका लेखन मनुष्य की जानी-अनजानी चेतना, देशकाल और संबंधों से गुत्थमगुत्था होती स्थितियों से निपटने के लिए कविताएं भी बताता है और आप्त वाक्य का कथन भी करता है।

इन बौद्धिकताओं से या 'रेशनल बीइंग' की मान्यताओं से उभरे पात्रों से दिलवाए हुए तर्क उन्हें अतिआधुनिक, सभ्य और मुक्त तो बनाते हैं पर उनके वास्तविक मनुष्य की छवि को छायाग्रस्त भी करते हैं। इसी तरह वे श्रेष्ठ मनुष्य पात्र की निर्मिति तो करते हैं, पर उसे ऐसा स्वरूप भी दे देते हैं जिनके साथ राग का संबंध नहीं बनता है। एक बौद्धिक आभिजात्य पात्र जो आकर्षित तो करता है पर उसके साथ चलने की स्थिति नहीं बन पाती है। जैसे कि हर एक स्थिति से पलायन एक नए संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती है। इन पलायन और नए संघर्षों का अद्‌भुत द्वंद्व अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियों को विशिष्ट ढंग से आकर्षित और विकर्षित करता है। समाज के स्थापित मानकों को निरंतर चुनौती देता कथानक और पात्र निरूपण एक अलग ही तरह का वातावरण रचता है। सरहदों पर या सरहदों के पार जाना संभावनाएं भी हैं और खुद को देखने का एक जरिया भी। ऐसा लगता है कि इतना संपूर्ण-सा व्यक्ति भी अधूरा-अधूरा सा क्यों रहता है। क्या संपूर्णता एक संघर्ष है और अधूरा-अधूरा सा जीवन हर पात्र का अभिशाप है।

पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद एक अजीब-सी थकान का अनुभव हुआ। एक ऐसी थकान जो विशिष्ट तो लगता है पर ऐसी थकान को आग्रहपूर्वक आमंत्रित करने की इच्छा नहीं होती है। पात्र, जो अपने सामाजिक चेतना के प्रति इतने सजग हैं और साथ ही साथ उन पर प्रहार भी करते हैं, एक लाचार जीवन जीते हैं और उसको ललकार भरी चुनौती भी देते हैं। यह शायद इसलिए कि व्यक्ति की स्वाधीनता एक दृष्टिकोण है, वह मन का प्रशिक्षण है जो आंतरिक शक्ति

'नदी के द्वीप' उपन्यास में चार महत्वपूर्ण पात्र हैं जिनके द्वारा उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। ये चारों पात्र अलग-अलग सामाजिक और मनोवैज्ञानिक बनावट के हैं, जिनमें से तीन-भुवन, गौरा और रेखा मनोवैज्ञानिक धरातल के स्तर पर एक समान नजर आते हैं। उनमें मानवीय संबंधों के प्रति साझे के मूल्य हैं।

के विकास से आता है। यह मानवीयतावादी दृष्टिकोण और अस्तित्ववादी विचारधाराओं की वह मान्यता है जिसमें व्यक्ति को असीम विकास की संभावनाओं का विपुल स्रोत माना गया है।

वहीं इस उपन्यास का दूसरा पात्र भौतिकतावादी दर्शन से प्रेरित वह चरित्र है जो सब कुछ तात्कालिकता में पाना चाहता है। इसमें से कौन सा वरेण्य है इसका फैसला पाठक स्वयं अपनी बनावट के हिसाब से कर लें। शायद इसमें सुखवादी सोच पर प्रहार करने का प्रयास भी है। इसका फैसला संभवत: अज्ञेय जैसे लेखक की लेखकीय निर्मिति का उद्‌देश्य नहीं है।

वास्तव में 'नदी के द्वीप' जैसी कृति इस संसार में रिश्तों और स्थितियों के बनते-बिगड़ते लैंडस्केप की सहज अभिव्यक्ति है। वैचारिक और बौद्धिक खंडन-मंडन की शैली में लिखा गया यह उपन्यास काल के परे जाकर मानवीय संबंधों के ताने-बाने की गहराई से पड़ताल करता है। इस रचना की एक विशेषता इसमें प्रस्तुत संवाद शैली है। इसमें आमने-सामने के संवाद हैं, पात्रों के संवाद हैं और स्वगत संवाद भी हैं। इन पात्रों से आप शिक्षित होता हुआ अवश्य महसूस करते हैं पर उनके जैसा होने से घबराते हैं। यहां पीड़ा और व्यथाओं को गढ़ती हुई वह सृजनशीलता है जो उन्हें रचना की आवश्यक शर्त मानती है। उसमें रिश्तों से परे सुख या प्रसन्नता की जगह सीमित है या नहीं के बराबर है।

इस उपन्यास में जहां व्यक्ति या पात्र अपने अंदर घनीभूत विकास की असीम संभावनाओं से, एक स्व-पर्याप्त, स्व-निर्देशित एवं स्व-मूल्यांकन वाले रूप से 'ऑब्सेस्ड' है, वहीं इन सब के उद्‌दीपन के लिए रिश्ते के सेतु की तलाश करता है। यह संभवत: उन मानवतावादी और अस्तित्ववादी यूरोपीय दार्शनिकताओं के अधूरेपन को भी अभिव्यक्ति देने का प्रयास है, जो चालीस-पचास के दशक में एक लहकती हुई आधुनिकता और बौद्धिकता की सघन पहचान थी। फिर उसके पात्र अपनी सभी विवेकशीलता और मानवीय संवेदना के सांस्कृतिक धरातल पर आते हैं तो बेहद आप्त वाक्यों में शरण लेते हैं। वे सभी सांस्कृतिक धरातल पर मानवतावादी-अस्तित्ववादी मानवीय संभावनाएं तलाशते हैं तो विक्टर फ्रेकल की- अर्थ तलाशने की लड़ाई लड़ते दिखाई देते हैं।

कुल मिलाकर 'नदी के द्वीप' को दोबारा पढ़ना एक नया अनुभव था, जो संभालता भी है और उखाड़ता भी है। यह पुस्तक विचारहीनता के तात्कालिक दौर में विचार की संभावनाओं के लिए एक माध्यम की तरह है। इसके पात्र मानवतावादी-अस्तित्ववादी हैं और साथ ही विकास की असीम संभावनाओं की तलाश करते ऐसे विवेकशील प्राणी हैं जो बेहद संवेदनशील हैं लेकिन उनकी संवेदना का पूर्ण विकास अपने संबंधों से उपजी व्यथा के द्वारा ही संभव हो पाता है। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 16

कल्पना, मई
I

अज्ञेय'

सायं - प्रातः
[दो कविताएँ]

१. सन्ध्या-संकल्प

यह सूरज का जपा-फूल
नैवेद्य चढ़े चला
सागर हाथों
अम्बा तिमिर-मयी को :
तनो साँस-भर,
फिर मैं यह पूजा-क्षण
तुम्हें दे दूँगा ।

#

क्षण अबोध्य है, इतना मैं जानता
पहले भी पहचाना है
इसलिए साँझ को नश्वरता से नहीं बाँधता ।
किन्तु दान भी है अबोध्य, अनिवार्य,
पर्व —
यह लोकालय में
धीरे-धीरे जान रहा हूँ
(अनुभव के सोपान !)
और
दान वह मेरा एक तुच्छ-सा है ।
यह एकोन्मुख हिरण्भाव —
इतना-भर मेरा एकान्त निजी है,
मेरा अर्जित :

→

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 17

वही दे रहा हूँ
ओ मेरे एक-सत्य !
मैं
तुम्हें ।

#

ऐसे तो हैं अनेक
जिनके द्वारा मैं जिया गया ;
ऐसा है बहुत
जिसे मैं दिया गया ।
यह इतना
मैंने दिया । अल्प यह लघु-क्षण
मैंने जिया ।

#

आह ! यह विस्मय !
उसे तुम्हें दे सकता हूँ मैं !
वह दिया ।
इस पूजा-क्षण में
सहज, स्वतः प्रेरित
मैंने संकल्प किया ।

२. प्रातः संकल्प

ओ आस्था के अरुण !
हाँक ला
अस्ताचलान्त के घोड़े ।
चूँद डालने दे
तीसरी आलोक-कशा के तले तिलमिलाते पैरों को
नभ का कच्चा आँगन !

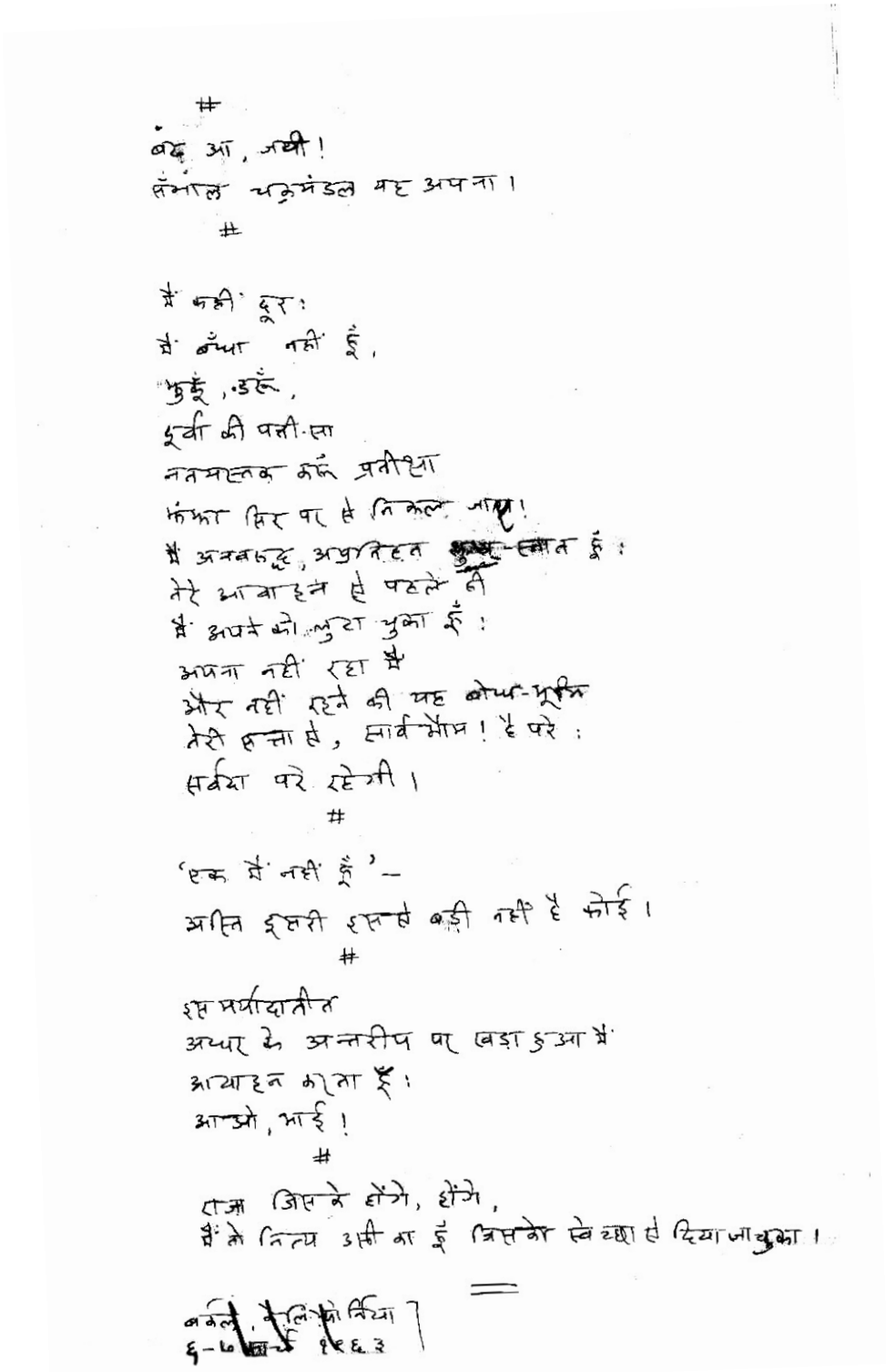

#

बढ़ आ, जयी!
सँभाल चक्रमंडल यह अपना।

#

मैं कहीं दूर:
मैं बँधा नहीं हूँ,
झुकूँ, डरूँ,
दूर्वा की पत्ती-सा
नतमस्तक मरूँ प्रतीक्षा
फंफा सिर पर से निकल जाए!
मैं अनबझूह, अप्रतिहत ~~झुकूँ-नमूँ~~ हूँ:
तेरे आवाहन से पहले ही
मैं अपने को लुटा चुका हूँ:
अपना नहीं रहा मैं
और नहीं रहने की यह बोझ-मुक्ति
तेरी सत्ता है, सार्वभौम! है परे:
सदैव परे रहेगी।

#

'एक मैं नहीं हूँ'—
अस्ति इतनी इससे बड़ी नहीं है कोई।

#

इस मर्यादातीत
अथाह के अन्तरीप पर खड़ा हुआ मैं
आवाहन करता हूँ:
आओ, भाई!

#

राजा जिसने होंगे, होंगे,
मैं तो नित्य उसी का हूँ जिसको स्वेच्छा से दिया जा चुका।

अकेले, दिल्ली को लिखा
६-७ [illegible] १९६३

अज्ञेय की हस्तलिपि में उनकी यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 19

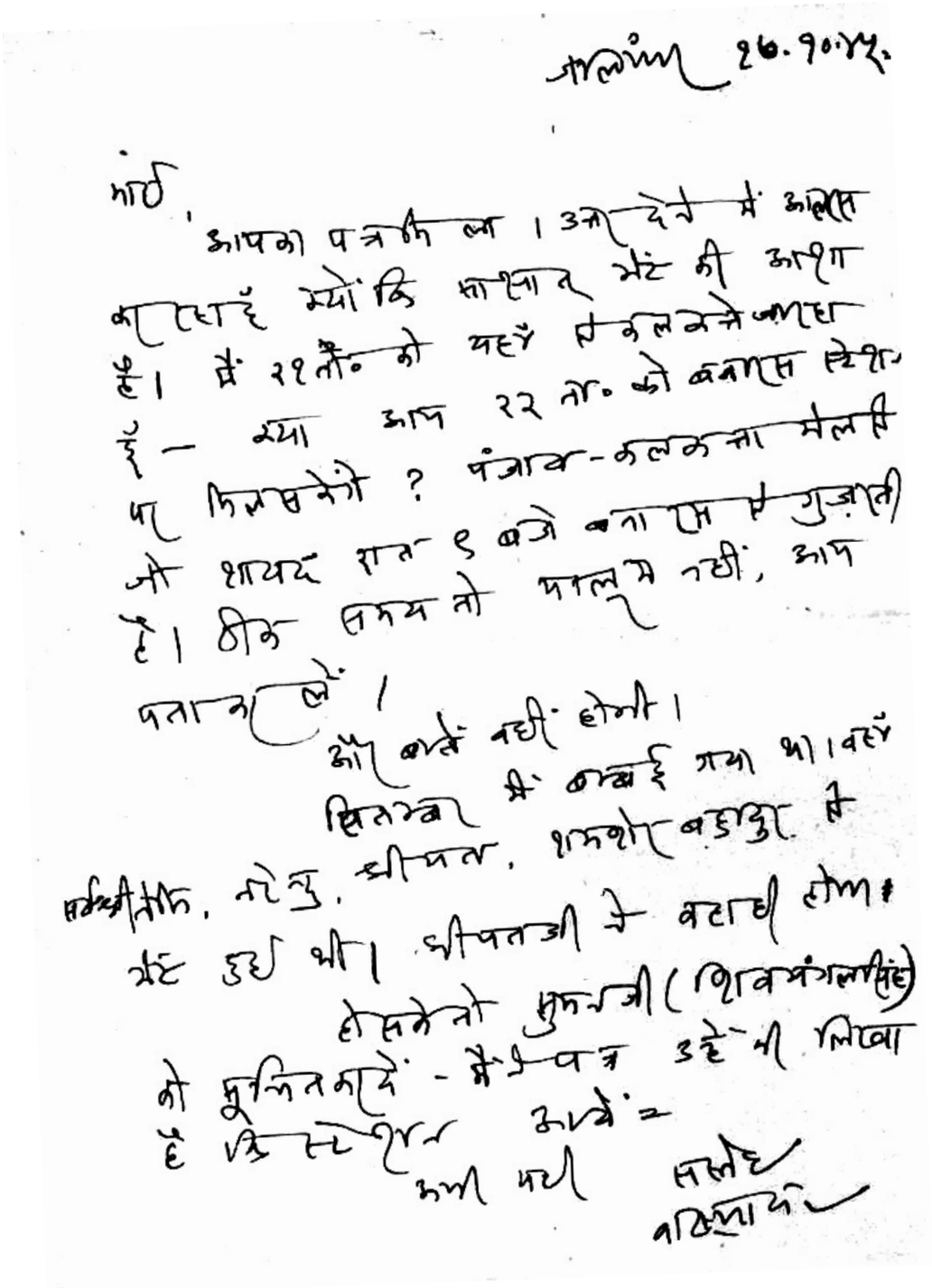

अज्ञेय द्वारा मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 20

समीक्षा

बागी-लुटेरे तो 'फरिश्ते निकले' - बजरिए औरत

■ **सत्यदेव त्रिपाठी**
सुप्रसिद्ध आलोचक

संपर्क : तल मंजिल - नीलकंठ, एन.एस. रोड नं-5. विलेपार्ले पश्चिम, मुम्बई- 400056.

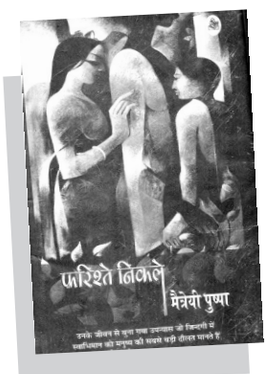

पुस्तक: फरिश्ते निकले
लेखिका: मैत्रेयी पुष्पा
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 395

मैत्रेयी पुष्पा के नए उपन्यास 'फरिश्ते निकले' में एक बार फिर एक विशिष्ट अंचल की मजलूम स्त्रियां हैं, जो उत्पीड़न की हद तक सतायी गई हैं और इसी की प्रतिक्रिया व परिणाम में वे तमाम पुरुषों व फूलन देवी की तरह ही अत्याचार के चरम से गुजर जाने के बाद बागी हो जाती हैं। इस तरह उस पूरे अंचल व जन समुदाय से लोगों के बागी होने की अनिवार्य वैधता के समाजशास्त्र तथा फिर इसीलिए उनके फरिश्ते होने की प्रामाणिकता को उनके अंतस् के पुरजोर साक्ष्यों के जरिये सिद्ध करके दिखा दिया गया है। यही कभी 'मुझे जीने दो' जैसी फिल्मों के माध्यम से भी हुआ था।

कथा की गवाही में लेखिका ने ऐसे सभी भोक्ता पात्रों-बेला-अजय-जुझार-बसंती-लिली-उजाला...आदि के रू-ब-रू होकर उनकी हकीकतों को तथ्यों से साधा और समृद्ध किया है। फिर तो लिखना बेहद गहन संवेदनशीलता में सराबोर हो उठा है। अनुभूति के इस ताप में स्वानुभूति की पीड़ा नहीं, तो सहानुभूति की श्लाघा भी नहीं। यह ताप अपनत्त्व की जद में आए 'परिजन-प्रियजन' की प्रत्यक्ष सदानुभूति (सत्-अनुभूति) का है, जिसके केंद्र में है बेला बहू की कहानी, उसी की जुबानी-सरीखे, जो नारी से नारी की समानुभूति से संवलित भी है...।

हो सकता है बेला बहू के केंद्रीय चरित्र का यह सूत्रधारत्त्व सच न होकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी कृतियों की मानिंद एक शैलीगत प्रयोग ही हो, पर उस चरित्र से लेखिका का साबका ऐसा हुआ है कि लगता है कथा तो सचमुच भोगी हुई है, बस जानी-सुनी बताकर कही जा रही है। फिर बेला बहू को पात्रत्व देने की प्रक्रिया में उतरते हुए उसके साथ लेखिका का एक अभिनव निजत्व भी बना है और इस रसायन से रचना में आई गहन संश्लिष्टता पाठक व कृति के लिए वरदान सिद्ध हुई है।

इसीलिए बेला बहू की भोक्ता की भूमिका के बाद 'बेला बहू की टोली' नामक अध्याय से उजाला आदि की कथा में वह वरदान वाला प्रवाह किंचित मद्धम हो जाता है। बेला-कथा के समापन के जिक्र पर बेला के ही आग्रह - 'इंसान का किस्सा जहां से खत्म होता है, वहीं से फिर शुरू होता है'- के सनातन सत्य को यदि लागू कर दिया जाए, तब तो न सिर्फ मैत्रेयी पुष्पा के सारे उपन्यास एक ही होंगे, वरन अब तक लिखी सारी कथाएं एक ही किताब हो जाएंगी। इसीलिए आगे के कथा-सम्भार मेरे जैसे पाठक के लिए उपन्यास की न सही, बेला बहू की हेठी जैसे लगने लगते हैं। क्या बेला बहू अकेले समर्थ न थी एक उपन्यास के लिए - भले वह सवा-डेढ़ सौ पृष्ठों का ही क्यों न हो!!

फिर परवर्ती कथा के दौरान बेला बहू स्वयं भी जब श्रोता-द्रष्टा और संरक्षिका बन जाती है, तो रचनात्मकता की दृष्टि से तकनीकी तौर पर लेखिका सत्य से (प्लेटो वाली) तेहरी दूरी पर आ जाती है और तब वह पूरा हिस्सा कथांश से अधिक कथा-विस्तार (एक्सटेंशन) लगने लगता है। औपन्यासिकता में कथा का पैबंद भले न बनता हो, उस तरह पार्ट भी नहीं बन पाता। हां, पूरक अवश्य बन जाता है। इन सबके मद्देनजर बेला-कथा के बाद उपन्यास पूरा हो जाना चाहिए - भले नाम रखना पड़े - 'फरिश्ता निकली' या ऐसा ही कुछ...। फिर उजाला आदि की कथायें पूरक कथा के रूप में एक अलग उपन्यास या इसी के दूसरे भाग के रूप में आतीं, तो बेला-कथा वाला यह उपन्यास ज्यादा चाक-चौबन्द, चुस्त-दुरुस्त लगता। मुझे तो बेला बहू की बाल व बेमेल विवाह-त्रासदी को समझने के लिए लेखिका की बुआ की बेटी सव्वो व सहेली शिवरानी की कथाएं भी, दो-एक पृष्ठ व अनुच्छेद की ही सही, न होतीं, तो बेहतर लगता, क्योंकि अतत: ये दुहराव ही तो हैं।

साहित्य में कथा व पात्र...आदि घटकों का प्रतिनिधित्व होता है, जिसमें आंकड़े का नहीं, औकात होता है। और अपने साथ हुए अत्याचार, सहनशक्ति

एवं प्रतिरोध का साहस व शक्ति था अपनी असीम मनुष्यता के साथ बेला की अकेली औकात अकूत है। फिर यूं तो हजारों कथाएं आ सकती हैं, दो-तीन ही क्यों? या फिर बेला के बाद एक भी क्यों?

परंतु, और यह बहुत महत्त्वपूर्ण 'परंतु' है, इन सारी कहानियों के बिना बागियों की त्रासदी व प्रतिकार का प्रतिनिधित्व तो हो जाता, लेकिन वह 'बेला बहू का स्कूल' अकेली बेला बहू से कैसे बनता? और इस स्कूल की एकाधिक व्यंजनाएं पुनः विमर्श की दरकार रखती हैं। बेला-कथा अपने को फूलन देवी का समकालीन बताती है, पर जाहिर तौर पर नारी-उत्पीड़न पर आधारित इस उपन्यास की मूल समस्या के साथ आज के अद्यतन व ज्वलंत रूप को जोड़ दिया गया है - 'अखबार में हम क्या पढ़ें? हत्याओं, बलात्कारों, औरतों को जलाने की वारदातों से पटा पड़ा रहता है।...विश्वविद्यालय खूनी जंगल हैं, बसें बलात्कारों के लिए सेफ जगह...। ऐसा तो किसी निजाम में नहीं था...बिन्नू हमने समर्पण क्यों किया था? शांति और भाईचारे के लिए। सब अकारथ चला गया।

जो लोग मुल्क पर शासन कर रहे हैं, उनमें शासन करने की योग्यता नहीं। बस, वे शासन करने वाले मां-बापों के घर पैदा हो गए हैं।...

नागरिक तो अपने बच्चों को पैदा होते ही अन्याय से लड़ने के लिए नहीं, नाइंसाफियों से सौदा करने की घुट्टी पिलाने लगते हैं।'

ऐसे मूल्यहीन वर्तमान में बेला की टोली का 'स्कूल दूसरा युग शुरू करने वाला होगा। जो आज बच्चे हैं, वे बड़े होकर दौलत कमाने, दहशत दिखाने या दलबंदी करके राजनीति पर कब्जा जमाने वाले नहीं होंगे। उन्हें यहां दिखाए गए सपने, आपसी भाईचारा, लड़की-लड़के की समानता' ...आदि।

इस प्रकार 'धरती के इस छोटे-से टुकड़े पर गांव के बीच 'आधुनिक सभ्यता' को चुनौती देने जा रही है। 'बेला बहू' की मामूली-सी टोली?' हर रचनाकार का एक प्रति-संसार होता है। उसी का अचूक नुस्खाा है यह स्कूल। इसका सोच व सपना बहुत मौन है। यह बहुत जरूरी है पर स्कूल की तीन शाखाओं के खुलने के संकेत के बावजूद हालात के यथार्थ के बरक्स देखें, तो शायद यह आदर्श-लोक ही है, जो सेवा-सदनों व प्रेमाश्रमों के रूप में प्रेमचंद भी बनाते थे। आज मृदुला गर्ग गोन्धड-योजना (कठगुलाब) बनाती हैं। मैत्रेयी जी भी 'इदन्नमम' में मंदा से ग्राम-सुधार की टोली बनवा चुकी हैं। पर वे आश्रम व ये टोलियां कहां बनीं? इतिहास व वर्तमानगवाह है कि ऐसे आदर्श हों या प्रति-संसार, हश्र यही होगा, जो समाज में आज हो रहा है। अतः जो रास्ता 'कफन', 'पूस की रात' व 'गोदान' आदि में प्रेमचंद बना गए - टीस पैदा करने व कुरेदने के लिए, वही कारगर लगता है।

मैत्रेयी जी ने सारंग नैनी (चाक) को यथार्थ की परख व गणना के आधार पर प्रधानी का चुनाव जिताकर तथा सोची-समझी रणनीति के तहत शीलो (झूलानट) से पति के समक्ष प्रतिकार लिवाकर व्यावहारिक धरातल पर नया रास्ता बनाया, जो ज्यादा वाजिब है - जीवन के बिल्कुल समानांतर। प्रतिकार तो प्रायः हर उपन्यास में हैं, जो मैत्रेयी जी के रचना-संसार की निधियां हैं। यहां भी बेला बहू प्रेम व सम्मान के नाम पर धंधा कराने वाले पांचो भाइयों को जला देती है। जेल जाती है, छूटती है....। यहां तक तो सब नितांत जीवनपरक है। और जेल में फूलन का मिलना धुंधुआती आग में पलीता - 'बेला को विश्वास हो गया कि दुष्ट-दलन करने वाली देवी कहीं मंदिर या मंडिया में नहीं होती, वह बीहड़ घाटियों में रहती है फूलन बनकर...रसूख वालों के बीच रहती है बेला बनकर।'

- 'जिस धरती को मर्दों ने अपनी मर्दानी की हेकड़ी व कामुकता के रूप में वीर्य से नहलाकर अपनी पीठ ठोंकी थी, वही धरती अब इनके फव्वारों में छूटते और धारोधार बहते खून से अपनी गंदगी धो रही...'

- 'मर्दों के पीछे दौड़ना छोड़ो औरतो,...तुम उनसे ज्यादा योग्य हो, क्योंकि जद्दोजहद के साथ हमदर्दी की मालकिन हो। अपना गुस्सा पीने के लिए नहीं, उगलने के लिए बचाकर रखो। औरत के गुस्से की आग में मर्दों के गुरूर व मालिकाना संस्कार जलकर भस्म हो जाएंगे...' - 'अपने समाज को बागी औरतें ही बदल सकती हैं बेला, भली को तो मर्द गन्ने की तरह पेरते हैं...'

और इतने-इतने सबके बाद ये स्कूल वगैरह का आइडिया उस तरह जमता नहीं - चाहे भले उसमें जीवन-समर से दीक्षा पाए लोग ही शिक्षक क्यों न हों !! यही तो बड़े पैमाने पर प्रकाश झा के 'आरक्षण' में है, जिसकी नियति है फिल्मी होकर रह जाना...और लेखिका तथा बेला की बुढाई के वक्त के स्कूली विचार की नीयत भी 'तितीषुः दुस्तरम् मोहदुडेपेनास्मि सागरम्' ही सिद्ध होगी...।

लेकिन इन सब आक्रोश व ऐक्शन, प्रतिशोध व विद्रोह के बीच पलता रहता है प्रेम। यूं तो कृति में दो अध्याय हैं - बेला का प्रेम और ऐ मुहब्बत, तेरे अंजाम पे रोना आया, पर पहला तो पाहुने का शातिर जाल है और दूसरे में प्रेम पर होते अत्याचारों की कथा। लेखिका जाने क्यों प्रेम को प्रेम की तरह हाईलाइट नहीं करती!! पर प्रीति क्या छिपाए छिपती है?

सबसे महत्वपूर्ण तो है बलवीर-बेला (प्रास तो देखिए) का लरिकइअवां का प्रेम, पर वे प्रेमी-प्रेमिका नहीं, गुइंया हैं - 'बेला का बल्लू'। शादी के बाद जब विवश बच्ची बेला लाल रेशमी सारी में लिपटी रात के धुंधलके में विदा हुई थी,...बलवीर भी शायद रात भर सोया नहीं था। साथ चलते हुए उसने न जाने कैसे इतना भर कहा- 'बेला तें छोटी-सी जनी लग रही है, अब इन कपड़ों में तुझसे खेलते न बनेगा'। कहते हुए उसकी आवाज भर्रा गई थी। बेला को लगा, बलवीर हथेलियों से अपनी आंखें पोंछ रहा है। और इन आंसुओं से उठता हाहाकार बेला के हृदय

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 22

को मथ रहा था।

फिर बांझिन का आरोप लगने (इसके गुह्य मर्म-संकेतों में झांकें) पर बेला ने बलवीर को याद किया और वह आया भी; चेकअप के लिए मिडवाइफ भेजकर सिद्ध भी कराया कि बेला बांझ नहीं। और पाहुने के पांचो भाइयों को जलाने के बाद जब बेला जेल में थी, तब तो शायद बिना बुलाये ही जाकर बलवीर ने उसका मुकदमा लड़ा था। क्या इसी दिन के लिए बेला उसे वकालत पढ़ने की सलाह देकर ससुराल आई थी और बलवीर ने उसकी सलाह को मन का आदेश या मन की विवशता समझ कर सचमुच वकालत इसी दिन के लिए पढ़ डाली थी? जेल से छुड़ाकर बलवीर ही उसे बागी डाकू अजय के पास ले गया था- वह छोटा-सा दृश्य भी अवश्य पढ़ें... याने सारी संरचना ही ऐसी है कि बलवीर न होता, तो बेला ऐसी ही न होती और बेला न होती तो बलवीर यही बलवीर न होता... याने यह रिश्ता होने और व्यक्त होने में पंतजी के 'उच्छवास' की बालिका का समानधर्मा है, तो अपनी प्रवृत्ति में 'उसने कहा था' के लहना-सुबेदारिन का बस, जान देने का मौका बलवीर को न मिला! वरना क्या वो पीछे हटता? और बेला की नियति-कथा इस प्रसंग को छिपाते-छिपाते बयां कर गई है- 'कोई मुझसे पूछे, बेला किससे प्यार करती हो, तो बलवीर के सिवा बेला किसका नाम लेगी?...बलवीर जब से छूटा, बेला मुसीबतों में घिर गई... इस निष्पाप-निष्कलंक संबंध को क्या नाम दिया जा सकता है?' इसमें एक बड़ी मार्मिक मनुष्यता अपने सलोनेपन के साथ झांक रही है।

लेकिन उजाला व शिक्षामित्र वीर का प्रेम तो प्रेम बनकर ही आया, जिसमें खिलंदड़ापन भी है और रूमान भी, तड़प भी और त्याग भी। उजाला की असह्य पीड़ा और अत्याचार (मृतवत हो जाने तक बलात्कार व नृशंसता) सहने की क्षमता, तो बलवीर में संकल्प की दृढ़ता और जान देने की हद तक विद्रोह-भाव भी...। वीर की वह सोच कि

नहीं लगता कि 25-30 साल की उम्र तक इतना सारा सहन कर लेना अनंत सर्गों के दुखांत महाकाव्यों का विषय है? इसे मैत्रेयी जी ने सरपट कहा है, जिससे 60-70 पृष्ठों में सब आ गया है, क्योंकि उन्हें दर्जन भर लोगों का स्त्री-केंद्रित संसार रचना था।

यौन शुचिता की तो बात ही क्या, योनिविध्वंस के बाद भी उसी के लिए जीने का जज्बा, तो उजाला की लगन ऐसी कि मर्मांतक व मरणांतक यातना देने वाले के बेटे को अपना ले...ऐसा होने में इन हादसों की जिम्मेदार जातिगत रीतियों और सामंती प्रवृत्तियों पर जीतता है वही प्रेम, पर मैत्रेयी जी बात उस प्रेम की न करके, उस नृशंस अत्याचार की स्त्री-कथा भर कहती हैं। प्रेम अपने होने की तरह उसमें आ जाता है। थोड़ा छोटे में ही दिनेश संतों की प्रेम-कथा भी वीर-उजाला जैसी ही है। पुरुषों की इस बदनाम शृंखला में वीर व दिनेश दोनों का ऐसा पक्का प्रेमी होना भी उल्लेख्य है।

इनमें से किसी भी प्रेम को विकसित (डेवलप) न करना सुचिंतित सृजन-कर्म ही है, वरना यह उपन्यास प्रेम-कथा बन जाता, जो लेखिका का मंतव्य न था। मंतव्य एकसूत्रीय चेतना बोध में है - नारी शोषण-उत्पीड़न, जिसके मुसल्लम कर्ता-धर्ता व नियामक है पुरुष जाति। और वही जब निचली जाति का मामला होता है, तो बड़ी जाति पुरुष खास बन जाता है। इसके पीछे कार्यरत है- भोग-विलास की सामंती वृत्ति, दबदबा और अधिकार भाव का अहम। इसमें सहभागी राजनीति (बड़े नेता बिना दारू और दारा के इलाके में आने का हामी नहीं भरते) व इसे बढ़ावा देने वाली है सरकारी प्रशासनिक व्यवस्था- 'दरिंदों से ज्यादा दरोगा का डर लगता है', जैसे 'अपहरण' में मौत से ज्यादा खाकी वर्दी वालों से। बस, यही है मैत्रेयी जी की मुख्य चिंता और चिंतन तथा रचना का सबब व सरोकार। और कहना होगा कि अपने अब तक के उपन्यासों में इस समस्या के इतने-इतने रूप व प्रकार के 'भांति बहु बरनी' होकर आने के बावजूद 'नई-नई सी है पर 'इनकी' रहगुजर फिर भी' की मानिंद न कोई दुहराव है, न ऊब, बल्कि 'फरिश्ते निकले' तो रोचकता के नए मानदंड स्थापित करता हुआ आया है। एक ही विषय गोकि बहुत व्यापक व सनातन- का ऐसा वैविध्य व इतना विस्तार न किसी और रचनाकार के यहां संभव बन पड़ा है और न ही मैत्रेयी जी के यहां इसका कोई अंत दिखता है...। अकेले इसी 'फरिश्ते निकले' में नारी-जीवन के घनघोर उत्पीड़न का कोई शातिर रूप बचा हुआ नहीं लगता। मिसाल के तौर पर बेला बहू को ही लें...

गुड़िया-गुड्डे खेलने की उम्र में पिता की मृत्यु, रिश्तेदारों की लूट-खसोट के बीच रोजी-रोटी के संघर्ष से थकी मां का अंधेड़ उम्र के शुगर सिंह की शरण मानकर बेटी की उससे शादी कर देना, जिसके कारण 'बेला को डाकुओं का नहीं, विवाह का डर लगता है'। ससुराल में 'बकरा, मुर्गा और सुअर की तरह शरीर पर गोश्त चढाने के लिए पाली' गई और फिर 'दूध न दुहने देने वाली गायों के पांवों में रस्सी बांधकर दुहने की तरह नादान बच्ची 'बेला के हाथ-पांव खटिया से बांधकर' उससे पत्नी-धर्म निभवाया गया। इतने के बाद शुगर सिंह की नपुंसकता (जिसे उक्त देह-दोहन के दौरान न बताकर लेखिका अचानक उघाड़ती है) का लांछन

उसे बांझिन के नाम से 'सरनाम' होकर ढोना पड़ता है। रातों को उसकी नाकामी की कुंठा को अपनी नोच-खसोट के रूप में 'नख-दंत-क्षत' की शृंगारिकता को नाखूनों-दांतों से लहूलुहान होकर झेलना पड़ा है। बांझिन के तिरस्कार की अवचेतनी प्रक्रिया में 'फाल्स प्रेग्नेंसी' का दंश और कूड़ा-कचरा जनने की जिल्लत सहनी पड़ती है...।

इस तरह एक अदद विवाह, बेमेल ही सही, एक अदद प्रेम व गर्भ, छलावा ही सही... से गुजरी बेला बहू का पहला यौन-संबंध मुठभेड़ की शक्ल में हुआ, जो प्रक्रिया में सचमुच का बलात्कार था, क्योंकि बलात्कार झूठमूठ का तो होता नहीं, पर जिसे बेला की स्थिति में झूठमूठ का भी मानने का सवाल न उठा, क्योंकि किसी ने जाना ही नहीं। और यह हुआ सचमुच के प्रेम के चक्कर में। जिस पाहुने उर्फ भारत को बेला मन-प्राण के समर्पण भाव से पाने चली थी, वह इलाके के बड़े आदमी व लोकल नेता के वेश में भ्रष्ट-सौदेबाज-दलाल-दरिंदा निकला। पांच भाइयों से बलात्कृत होते-होते उसे बड़े नेताओं को खुश करने के लिए 'कॉल गर्ल' के रूप में परोसे जाने का आदेश भी सुनना पड़ा...।

नहीं लगता कि पच्चीस-तीस साल की उम्र तक इतना सारा सहन कर लेना अनंत सर्गों के दुखांत महाकाव्यों का विषय है? इसे मैत्रेयी जी ने सरपट कहा है, जिससे 60-70 पृष्ठों में सब आ गया है, क्योंकि उन्हें दर्जन भर लोगों का स्त्री-केंद्रित संसार रचना था। इसलिए दृश्यात्मक बनाकर यादगार कर देने के बदले सूचनात्मक ढंग से कहते हुए आगे बढ़ जाने की रौ में इतनी घटनाएं-कथाएं आ गई हैं कि सबको रेखांकित करना भी यहां दूभर है, विवेचन तो दूर की बात!! उपन्यास का ध्यान उपन्यास की संरचना और कला पर है ही नहीं। तभी तो कोई भी चरित्र-कथा की केंद्र माध्यम बेला बहू भी, उस तरह उभर कर नहीं आता, जैसे इनकी सारंग नैंनी व मंदा या अल्मा कबूतरी की नायिका आती हैं या 'गोदान' धनिया-होरी आते हैं। कथा भी कथा या पाठक के लिए नहीं बनती, वरना किस मुद्दे पर कैसे छूटी जेल से बेला...कैसे-कैसे रसूख (अजय जैसे समर्पण किए डाकुओं आदि से) और कैसी-कैसी वकालत एवं पारिवारिकता बनायी है बलवीर ने कि इतना कुछ कर पाता है... बेला क्यों इतनी अनुरक्त हो गयी बूढे पाहुने भारत पर (जो होता कम है, लेखिका ने कराया ज्यादा है)...फिर पांचो को जलाने का मामला भी अचानक... इसके साथ 'फाल्स प्रेग्नेंसी, मां बनने की ईहा तथा शुगर सिंह के नामर्दी... आदि के पीछे के कितने मनोविज्ञान छिपे हैं, उजाला के जरिए लोहा-कार्य करने वालों के छोर को पकड़ कर राजपूत कालीन इतिहास...आदि सबके बस उल्लेख भर...याने कथा में घटित-उल्लिखित ज्यादा है, सृजित कम।

परंतु सृजन के मूल में इतने गहरे धंसा है वह नारी-शोषण-उत्पीड़न का एकसूत्रीय बोध और लेखिका की सृजन-चेतना उससे इस कदर उद्वेलित-झंकृत है कि उसमें तपी भाषा कदम-कदम पर सूक्तिवत होती हुई जुबान पर अपने आप चढ़ जाने जैसी स्मरणीय व उद्धरणीय हो गई है। कुछ बानगियाँ द्रष्टव्य हैं-

दीवार और मर्द जितना पानी खाए, उतना पुख्ता होते हैं।

बूढ़े वरों की वैवाहिक योग्यता संपन्नता से जुड़ी होती है।

धन-दौलत में खेलती औरतें अपना हक आसानी से भूल जाती हैं।

दौलत वालों की इज्जत बड़ी नरम होती है, जिसे औरत चाहे, तो बायें हाथ से ढहा दे।

घर की देहरी बनी रहे, तो मर्द से ज्यादा हिफाजत करती है।

मर्दों पर शराब का नशा चढ़ता है, तो औरत पर प्यार का।

और ऐसी ढेरों-ढेर भरी पड़ी हैं, जो लेखिका के गहन जीवनबोध और पकी भाषिक चेतना की प्रमाण हैं और सारी संसक्ति व संप्रेषणीयता के बावजूद मैत्रेयी जी में यह इससे पहले प्राय: नहीं दिखी थी।

इसके अलावा भी सुचारु अभिव्यक्तियां कब सौ-सौ सुंदर रूप धरे आपोआप चली आती हैं, पता ही नहीं चलता। अनजाने में ही रूपकों-प्रतीकों-अलंकारों आदि की छटाएं छिटकती चली गई हैं, जिनके एक-एक उदाहरण तो देख ही लें -

- रूपक : बैल की गरदन सलामत रहे, जुआ तो एक न दिन मिल ही जाएगा।

- प्रतीक - तेज हवाओं के थपेड़े इन झाड़ियों में लहरें पैदा करते हैं। अपने कद में छोटी, पर मजबूत झाड़ियां उस जंगली घास के बहनापे में रहती हैं, जिनको मवेशी रोज ही अपने खुरों से रौंद जाते हैं।

- अलंकार - जैसे विपदायें मौका नहीं चूकतीं, वैसे ही रिश्तेदार भी अवसर नहीं खोते'

इनके साथ महाराणा प्रताप जैसे ऐतिहासिक व पांच भाइयों से भोगी जाती बेला को द्रौपदी तथा उन्हें जलाते हुए उसमें अहल्या-अनुसूया जैसी सतवंतियों के प्रवेश जैसे कतिपय और भी मिथकीय-पौराणिक काव्योपकरणों के सटीक प्रयोग (काश इन उदाहरणों को ठीक से प्रस्तुत कर पाता!!) तो कृति को सशक्त व समृद्ध करते ही हैं, इनके अलावा सादगी में भी लेखिका के साक्ष्य पर ही- 'उर्वरा मानस-भूमि में अंकुराती भावप्रवणता' का बेहद प्रांजल भाषिक प्रवाह, औपन्यासिकता को काव्यमय और मर्मांतक वेदनाओं को काव्योपम करते हुए कृति को खूब-खूब पठनीय-ग्रहणीय-सराहनीय बना देता है।

'कछोटा', 'पिड़ी रहो' 'घिची' जैसे खांटी लोक-शब्दों के साथ 'संभोगपटुता' जैसे संस्कृत और 'लोहपीटाओं' जैसे बोलचाल के शब्द-युग्मों की रचना से उपन्यास गमक उठा है। इस समूचे सम्भार से डर भी लगता है कि किसी स्टंट निर्माता की नजर में न आ जाए, वरना ऐसी फिल्म बना देगा कि उपन्यास दो कौड़ी का हो जाएगा, पर कामना है कि किसी जहीन फिल्मकार की नजर में आए, तो खूबसूरत फिल्म बनाकर वह इसे आसमान की बुलंदियों तक ले जा सकता है। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 24

समीक्षा

अभियोग जिसमें फैसला पहले से ही तय था

■ **जवाहरलाल कौल**
वरिष्ठ पत्रकार

संपर्क : 301, रामा अपार्टमेंट, प्लॉट न.-2, सेक्टर-11, द्वारका, नई दिल्ली-110075

पुस्तक : भगत सिंह को फांसी
संपादन : मलवेंदर जीत सिंह बढ़ैच और राजवन्ती मान
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 600

किसी देश का इतिहास उस देश में रहने वालों की कहानी होती है। लेकिन करोड़ों लोगों की व्यक्तिगत कहानियां लिखना संभव नहीं होता। विभिन्न युगों में उस देश या राष्ट्र की जो छवियां जन-जन के मानस पटल पर अंकित होती रहती हैं, वही उस देश या राष्ट्र की विशिष्टता, उत्थान और पतन को प्रतिबिंबित करने वाली कहानियां बन जाती हैं। उसी को हम इतिहास कहते हैं। लेकिन स्वाभिमान से युक्त राष्ट्र अपना इतिहास स्वयं लिखते हैं वरन उनके आक्रांता, उनके दमनकर्ता ही उनका इतिहास भी लिखते हैं।

हमारे साथ ऐसा ही हुआ है। युगों पहले हमने अपनी कहानी लिखी हो लेकिन आधुनिक युग आते-आते हमारी कहानी हमने कम हमारे विदेशी शासकों ने अधिक लिखीं और हम उसी में अपनी तस्वीर देखते रहे। अंगेजों के विरुद्ध जितनी आवाजें इस देश में उठीं, जितनी बगावतें हुईं, उनका जो ब्यौरा हमें मिला, वह उन लोगों की लेखनियों या रपटों के माध्यम से मिला, जिन्होंने उन बागियों या विद्रोहियों या लड़ाकुओं को मारा, दबा दिया, न कि उन लोगों की जुबानी जिनके लिए उन्होंने कुर्बानी दी थी।

ऐसा नहीं कि उनकी बहादुरी की गाथाएं किसी ने नहीं गाईं, लोककथाओं का विषय नहीं बनीं लेकिन हर बोलों की गाई गाथा को इतिहास की श्रेणी तक पहुंचने में आज तक भी अड़चनें बहुत हैं। प्रचलित भारतीय इतिहास लेखन के बारे में सवाल तो अभी कुछ ही समय से उठने लगे हैं, लेकिन अगर उठने लगे हैं तो तथ्यों को समेटने, सहेज कर रखने का प्रयास भी होगा ही। मलवेंदर जीत सिंह बढ़ैच और राजवन्ती मान की संकलित और सुखदेव की टिप्पणियों समेत भगत सिंह को फांसी पुस्तक दरअसल सामान्य पुस्तक न हो एक दस्तावेज है, जो साम्राज्यवाद को हटाने के उस संघर्ष के अनेक पहलुओं पर लिखी जाने वाली कई पुस्तकों की आधार सामग्री बन सकती है।

यह सच है कि जो गवाहियां इस अभियोग में सामने आई हैं, वे एकतरफा बयान थे। सारा अभियोग पांच प्रमुख वादा माफ गवचाहों के बयानों पर आधारित था। अधिकारियों ने उन बयानों की सच्चाई जानने या उनकी परीक्षा करने का कोई गंभीर प्रयास किया ही नहीं। शायद हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जिससे निष्पक्षता की उम्मीद की जा सकती थी उसी के विरुद्ध तो अन्याय और दमन का आरोप था। जब अभियुक्त राजा को ही जनता की अदालत में खड़ा कर रहे थे तो वही राजा अभियुक्तों के बारे में निष्पक्ष कैसे हो सकता था?

गवाहों के बयान कैसे बनाए गए थे इसका नमूना इसी पुस्तक में एक वादा माफ गवाह की अंतरात्मा जाग जाने पर सामने आया। रामशरण दास लाहोर साजिश मामले में सजायाफ्ता था और कालेपानी में अपना दंड पूरा करके आया था कि इस मामले में फंसा दिया गया। उसे वादा माफ गवाह इस शर्त पर बनाया गया था कि वही बयान देगा जो उसे सुनाया जाएगा। लेकिन आदालत में आते ही उसने मालिकों की बोली बोलना बंद कर दिया। गवाह के तौर पर उसके बयान का यह अंश दिलचस्प है। 'यह दस्तावेज मुझे पुलिस ने दिया है ताकि मैं इसको जबानी याद कर लूं। यह बयान उस पुलिस अधिकारी के पास था जिसे मेरे ऊपर नियुक्त किया गया था। और वह कभी-कभी मुझे इसे दिखाया करता था। जिस समय कोई अधिकारी बदल जाता था तो वह इस बयान को आने वाले अधिकारी को सौंप दिया करता था।'

ऐसी ही रटी रटाई गवाहियों के आधार पर भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी पर लटकाया गया। क्योंकि अभियुक्तों की दृष्टि में

उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था और जो किया था उस पर कोई पछतावा नहीं था इसलिए किसी सरकारी सहायता की न तो उन्हें उम्मीद थी और न ही उसके लिए कोई प्रार्थना ही की। विशेष रूप से जब कि अभियुक्त जानते थे कि फैसला ब्रिटिश सरकार ने पहले ही तय कर लिया था। इसलिए सरकारी वकील लेना एक औपचारिकता थी जिसको अधिकांश अभियुक्तों ने लेने से ही मना कर दिया।

गवाहियां कितनी ही एकतरफा रही हों उनको पढ़ने से कुछ ऐसे तथ्य तो पाठकों के सामने आते ही हैं, जिनमें से कुछ को पढ़कर हम भारतीय गर्व से सिर ऊंचा करके शायद ही कह पाएं कि हमें उन शहीदों के बलिदान पर गर्व है।

जिन परिस्थितियों में भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, राजगुरु, सुखदेव सरीखे देश पर प्राण न्यौछावर करने वाले वीरों पर अभियोग चला उससे आभास नहीं होता कि नगर में कोई महान घटना घट रही हो। कोई बड़ी हलचल नहीं, आक्रोश का कोई प्रदर्शन नहीं। हमारे बड़े और नामी राजनैतिक दल अपनी-अपनी सौदाबाजी में लगे थे और उनके लिए शायद ये सिरफिरे लड़के थे जो देसी राजनीतिक दलों और अंग्रेजों के बीच शांतिपूर्ण लेन-देन में बाधा डाल रहे थे। जनता को आंदोलित कौन करता जबकि भगत सिंह और आजाद के मामले में वे सरकार के पाले में ही खड़े थे। दूसरी बात जो साफ दिखती है कि भगत सिंह और दूसरे क्रांतिकारियों ने एक साम्राज्य का उखाड़ने का संकल्प लिया था लेकिन उसके लिए जिस संगठन की आवश्यकता थी वह नहीं जोड़ पाए थे।

पूरी पुस्तक में दस-बीस रुपये के लिए मारे-मारे फिर रहे क्रांतिकारी नेताओं को देखा जा सकता है, न रहने के ठिकाने थे और न ही प्रचार की वह व्यवस्था जिससे आम जनता उनके साथ होकर उनका कवच बन जाती। वैचारिक स्तर पर अकर्मण्य समाज में

क्रांतिकारियों का अलग-थलग पड़ना अस्वाभविक नहीं था। दुनिया में क्रांतिकारियों ने शक्तिशाली हुकूमतों के खिलाफ जंग लड़ी हैं, कुछ सफल रहे कुछ सफल नहीं रहे। लेकिन आसपास के सामाजिक माहौल को इतना गरमा दिया कि हुक्मरानों के लिए उनकी चुनौतियां को कुचलना आसान नहीं रहा।

भगत सिंह और दूसरे क्रांतिकारियों की तलाशी लेते समय जो साहित्य मिलता था उनमें विश्व के क्रांतिकारियों का इतिहास या उनकी समर नीति की पुस्तिकाएं हुआ करतीं थी। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे क्रांतिकारी अंत तक भी बिखरे-बिखरे से दिखाई दिए, संगठन और लंबी दूरी की समर नीति के प्रति जितना ध्यान दिया जाना था, नहीं दिया। वे जोशीले थे, मातृभूमि की मुक्ति के लिए उतावले थे लेकिन उन्हें यह एहसास नहीं था कि वे केवल क्रूर विदेशी सरकार से लड़ रहे हैं अपितु अपने देश का राजनैतिक माहौल भी उन के प्रतिकूल ही था, फिर उसका संचालन कांग्रेस कर रही हो या मुस्लिम लीग।

फिर भी, 'भगत सिंह को फांसी' पुस्तक ऐसा दस्तावेज है जिसे हर उस नागरिक को पढ़ना चाहिए जो शख्स चाहता है कि राजनीति की कथित मुख्य धाराएं ऐसी ही वैकल्पिक धाराओं से ही बनती और बल पाती हैं जो सतह पर तो बहुत प्रबल भले ही न दिखें लेकिन सतह के नीचे दूर तक और देर तक वातावरण को प्रभावित करती रहती हैं। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 26

समीक्षा

शव-संस्कार से भी संभव है निर्वाण

■ **चन्द्रदेव यादव**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क : हिन्दी विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,
नई दिल्ली-110025

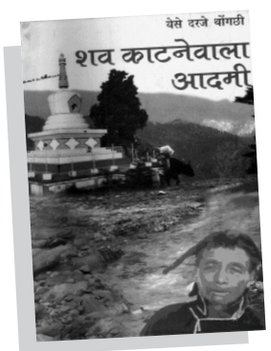

पुस्तक : शव काटने वाला आदमी
लेखक : येसे दरजे थोंगछी
प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 395

हिंदीतर भारतीय भाषाओं की जिन कृतियों से मैं बेहद प्रभावित हुआ हूं उनमें एक कृति 'शव काटने वाला आदमी' भी है। यह कृति येसे दरजे थोंगछी के असमी उपन्यास 'शव कटा मानुह' का हिंदी अनुवाद है। इससे प्रभावित होने के कई कारण हैं- पहला, यह उपन्यास उत्तर-पूर्व की एक जनजाति के जीवन और संस्कृति पर आधारित है; दूसरा, यह उपन्यास एक बौद्ध संन्यासिन और एक साधारण मनपा पुरूष की निश्छल प्रेमकथा भी है। लेकिन इन सबके बावजूद यह उपन्यास जिस वजह से रोचक, आकर्षक और भावविह्वल करने वाला है वह है उपन्यास का केंद्रीय चरित्र आउ थांपा यानी शव काटने वाला मनपा जनजाति का एक व्यक्ति जो अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और धार्मिक प्रसंगों से जुड़ा हुआ अद्‌भुत व्यक्ति है।

येसे दरजे थोंगछी असमिया के मशहूर कथाकार हैं। उनके उपन्यास 'मौन हौंठ मुखर हृदय' को 2005 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। उनके एक अन्य उपन्यास 'सनम' पर फिल्म भी बन चुकी है जिसे 2005 में राष्ट्रपति की ओर से रजत पदक प्राप्त हुआ। थोंगछी लगभग तीन साल तक तवांग जिले के उपायुक्त पद पर रहे। उस दौरान उन्होंने अरुणाचल प्रदेश की मनपा जनजाति की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों को देखा। लेखक स्वयं 'सेर दुक पेन' जनजाति से हैं। सेर दुक पेन और मनपा जनजाति में काफी समानताएं हैं, लेकिन शव काटकर अंत्येष्टि करने की प्रथा केवल मनपा लोगों में है। आलोच्य उपन्यास की पृष्ठभूमि भले ही मनपा जनजाति हो, लेकिन इसका केंद्रीय विषय 'शव-संस्कार' ही है।

इस उपन्यास की कहानी मुख्य रूप से शव काटने वाले दारगे नरबू पर केंद्रित है जिसे लोग आउथांपा, आपा थांपा या आजांग थांपा कह कर बुलाते थे। अर्थात वह शव काटने वाला किसी के लिए बड़ा भाई था, किसी के लिए पिता तो किसी के लिए मामा। वह दिरांगजंग का नहीं, बल्कि छुरवी का था। राजनैतिक उथल-पुथल और मानसिक विक्षिप्तता के कारण पागलखाने से बाहर आने के बाद वह पराये गांव दिरांगजंग आ गया। वहां के सरपंच और गांव वालों ने नदी किनारे एक घर बनवाकर उसे शरण दी और उसे शव-संस्कार का काम सौंप दिया। उसकी जीविका के लिए उन्होंने उसे थोड़ी जमीन भी दे दी, लेकिन खेती-बारी का काम उसकी पत्नी गुईसेंगमू करती थी। वह केवल शवों को काटने का काम करता था। शव-संस्कार के लिए उसे एक धेला भी नहीं मिलता था।

भारत में अनेक जनजातियां हैं। उनमें से ज्यादातर के आचार-विचार और कर्मकांड एक-दूसरे से भिन्न हैं। अरुणाचल प्रदेश के तवांग अंचल की मनपा जनजाति इसका अपवाद नहीं है। तिब्बत मूल के मनपा बौद्ध धर्म की महायान शाखा से जुड़े हैं। उनकी भाषा का नाम भी मनपा है। तवांग अंचल के मनपा लोगों की यह धारणा है कि मृतक की सद्‌गति के लिए उसके शव के एक सौ आठ टुकड़े करके नदी में प्रवाहित करना जरूरी है।

सामान्य से लेकर विशिष्ट लोगों के शवों का संस्कार करने वाले दारगेनरबू उर्फ आउथांपा ने कभी यह नहीं सोचा था कि वह थांपा (शव काटने वाला) बनेगा, लेकिन मजबूरी में वह थांपा बना। उसकी मां भी नहीं चाहती थी कि वह थांपा बने, क्योंकि शव काटने को पुण्य का काम मानने वाले मनपा समाज में थांपा की कोई इज्जत नहीं करता था। थांपा ज्यादातर आराक (मदिरा) पी कर मदहोश रहते थे। वे गंदे और फूहड़ तरीके से रहते थे, इसलिए उन्हें कोई अपने घर में घुसने नहीं देता था।

साल में एक बार स्नान करने वाले आउथांपा के

कपड़ों पर शव के खून, पीव, चर्बी, मल आदि चिपके रहते थे। उसके घर का हाल भी वैसा ही था। उसकी गूंगी-बहरी बेटी के मल-मूत्र से सना बिस्तर बदबू करता रहता था। एक अमानवीय किस्म का जीवन जीने वाला आउथांपा अपनी पत्नी और बेटी के प्रति बिल्कुल लापरवाह था। वह अपने बचपन की दोस्त, बुआ की लड़की, प्रेमिका और वाग्दत्ता पत्नी रिनचिन जोम्बा यानी रिजोम्बा को इतना चाहता था कि भारत-चीन युद्ध में उसकी मौत के बाद भी उसे भूल नहीं पाया। मनपा जनजाति में बुआ की लड़की से शादी करने का प्रचलन है।

रिजोम्बा की मां ने बचपन में ही रिजोम्बा की शादी दारगे नरबू से करने की बात कही थी, लेकिन शादी योग्य होने पर लामाओं ने उसकी कुंडली देखकर भविष्यवाणी कर दी कि रिजोम्बा की शादी का योग नहीं है। वह अविवाहित ही मर जाएगी। उसके साथ सहवास करने वाले व्यक्ति का भी अनिष्ट होगा। इसीलिए बहुत दुखी मन से रिजोम्बा ने दारगे नरबू से कहा कि वह दूसरी लड़की जिगमे से शादी कर ले। भारत-चीन युद्ध के समय सैनिकों का सामान ले जाने के क्रम में दारगे के कई साथियों की मौत हो गई। वह जिगमे को भी नहीं बचा पाया। उसने स्वयं जिगमे का शव-संस्कार किया।

बाद में युद्ध के समय गांव से पलायन करते वक्त रिजोम्बा को भी गोली लग गई और उसका भाई दंदू उसे मरा हुआ समझ कर आगे बढ़ गया। नारगे दरबू ने एक अन्य युवती के शव को रिजोम्बा का शव समझकर संस्कार किया, क्योंकि वहां पर रिजोम्बा का टोदुंग पड़ा हुआ था और शव का चेहरा क्षत-विक्षत था। फिर परिवारजनों से मुलाकात होने के बाद एक दिन जब वह खेत में काम कर रहा था, उसकी मां की तबीयत खराब हो गई। पिता ने उसे कहा कि वह मां को घर ले जाए और वह स्वयं लामा के पास चला गया। पीठ पर मां को लादकर घर लाते समय दारगे नरबू

पॉल क्ली की एक कलाकृति

को लगा कि वह बुखार में तप रही मां को नहीं, बल्कि जिगमे को लेकर जा रहा है। युद्ध में भीषण मारकाट और अपनी दो-दो प्रेमिकाओं को न बचा पाने वाला दारगे रनबू विक्षिप्त हो गया और उसने उसी हालत में अपनी मां को काट डाला और उसके मांस को खिला दिया। इसीलिए उसे कई वर्षों तक पागलखाने में रहना पड़ा। अपने गांव में वह मातृहंता के रूप में कुख्यात हो गया।

युद्ध के समय जिस रिजोम्बा के मारे जाने की पुष्टि हो चुकी थी, वह मरी नहीं थी। भारत आने के बाद दलाई लामा ने रिजोम्बा को विशेष आशीर्वाद दिया था और वह संन्यासिन हो गई।

बाद में जब दारगे नरबू को पारिवारिक दायित्व का बोध हुआ तो वह अपनी बेटी और पत्नी का ध्यान रखने लगा। वह सामाजिक कार्यों में भी रुचि लेने लगा। उसी समय उसने आने सांगे नोरजलोम को अपने यहां आमंत्रित किया। वहीं रिजोम्बा यानी आने सांगे ने अपना रहस्य खोला और बताया कि वह दारगे नरबू की वाग्दत्ता थी, लेकिन दोनों की शादी नहीं हो पाई। फिर भी उसके प्रति उसका प्रेम अक्षुण्ण रहा। आने सांगे नोर जलोम ने दारगे नरबू की बेटी की परवरिश और शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी ले ली। फिर उसने अपने पैतृक गांव में एक गोम्पा बनाने की इच्छा जाहिर की। उसका उद्देश्य था स्त्री-शिक्षा, नि:शुल्क चिकित्सा और अबलाओं तथा शारीरिक-मानसिक रूप से कमजोर महिलाओं के पुनर्वास की व्यवस्था। छुरवी में गोम्पा बना।

संन्यासिन ने मानव-सेवा करते हुए एक दिन अपनी मौत का ऐलान किया और आउथांपे से अनुरोध किया कि वह स्वयं उसके शव का संस्कार करे। उसने कहा था कि वह निर्वाण प्राप्त करने जा रही है। कई जन्मों से मेरी सेवा करने वाला दारगे नरबू मेरे शव का संस्कार करने के बाद स्वयं निर्वाण प्राप्त कर लेगा, क्योंकि उसने शव-संस्कार

करके समाज की बहुत बड़ी सेवा की है।

मनपा जनजाति में शव-संस्कार को पुण्य माना जाता है और शव काटने को तीर्थयात्रा करने जैसा फलदायी कहा जाता है। फिर भी वहां थांपा की उपेक्षा की जाती है। थांपा से लोग घृणा करते हैं, डरते हैं, क्योंकि एक न एक दिन मरने के बाद उसी के पास जाना होगा। मनपा लोग थांपा को शव-संस्कार के एवज में सिवा दो-चार बोतल आराक के कुछ नहीं देते। लेकिन बाद में वहां के प्रतिष्ठित लोगों ने शव-संस्कार के लिए शुल्क निर्धारित करके एक नया बदलाव किया जिससे आउथांपा के जीवन में सकारात्मक परिवर्तन हुआ। इससे जाहिर है कि रीतियों को नमनीय बनाने से ही सामाजिक प्रगति संभव है।

आउथांपा शव काटते-काटते लगभग संवेदनहीन हो चला था। सुंदर और युवा स्त्रियों के शरीर को काटते समय वह थोड़ा-सा बेचैन हो जाता था। उसका हृदय द्रवित होने लगता था। स्त्रियों के 'हसीन चेहरे, प्यारी आंखों, उन्नत वक्षस्थल, नाजुक हथेली, कोमल पेट, मांसल नितंब आदि को देखकर उसे उनके निस्तेज, सर्द अंग-प्रत्यंग में जरा सा प्राण-संचार करने की तमन्ना होती और उसका धारदार दाव बार-बार ठिठक जाता।' (शव काटने वाला आदमी, पृष्ठ-19) उसके आगे सभी विवश होते। शव का संस्कार करने के बाद केवल उसे अपनी पत्नी का साहचर्य मिलता और तब वह जान पाता कि दुनिया शवों की तरह बेजान नहीं है।

बेटी की उपेक्षा करने और पत्नी से सिर्फ संसर्ग तक का रिश्ता रखने वाले आउथांपा में जब जबर्दस्त परिवर्तन हुआ तो वह बेटी का इलाज करने के लिए सन्नद्ध हो गया। बेटी को प्यार करने के साथ वह पत्नी के साथ खेत में काम भी करने लगा। धर्म-कर्म और सामाजिक कार्यों में उसकी रुचि बढ़ती गई। सामाजिक रूप से उपेक्षित और लांछित आउथांपा ने अपनी प्रेमिका और संन्यासिन के सान्निध्य में आकर वह मुकाम हासिल किया

इस उपन्यास में मनपा जनजाति के जीवन और उनकी संस्कृति को बहुत ही कुशलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। मनपाओं में भी पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था है और वहां भी बेटों को अधिक महत्व दिया जाता है, फिर भी पैतृक सम्पत्ति में बेटियों को भी हिस्सा दिया जाता है। उनमें भाई-बहन की संतानों में विवाह करने का रिवाज है।

जिसे बड़े-से-बड़े लोग हासिल नहीं कर पाते। यहां एक बात का उल्लेख कर देना जरूरी है कि न केवल आउथांपा के दिल में रिजोम्बा के प्रति प्रेम बना हुआ था, बल्कि उस महान संन्यासिन के दिल में भी अपने बचपन के प्रेमी के प्रति लगाव था।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि आउथांपा ने सामान्य मनपा स्त्रियों द्वारा पहनी जाने वाली जिस 'टोदुंग' नामक पोशाक को आने सांगे नोर जलोम को उपहार स्वरूप दिया था उसे उसने छिपाकर गेरूए वस्त्र के नीचे पहना हुआ था।

यही नहीं, रिजोम्बा ने जहां पर दारगे नरबू को लामाओं की भविष्यवाणी का हवाला देते हुए बताया था कि उन दोनों का विवाह नहीं हो सकता, बाद में उसने वहीं पर गोम्पा बनाया। आउथांपा के घर एकांत में वह उसकी गोद में सिर रखकर आनंदमय प्रेम का अनुभव करती रही। आउथांपा के सामाजिक स्तरोन्नयन में रिजोम्बा की बहुत बड़ी भूमिका थी। उसे एक प्राणवान, ऊर्जास्वित, संवेदनशील और सम्माननीय व्यक्ति उसी ने बनाया और स्वयं के साथ उसे भी निर्वाण का अधिकारी घोषित किया। इसका तात्पर्य यह है कि संन्यासियों और संन्यासिनियों का व्यक्तिगत प्रेम मरता नहीं, बल्कि वे उसे बलात् मार डालते हैं। वास्तव में व्यक्तिगत प्रेम ही उदात्त होकर अलौकिक प्रेम बन जाता है। रिजोम्बा ने महसूस किया था कि रिम्पोछे होने का अर्थ है कठोर बंधन और कठोर साधना वाला जीवन।

इस उपन्यास में मनपा जनजाति के जीव और उनकी संस्कृति को बहुत ही कुशलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। मनपाओं में भी पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था है और वहां भी बेटों को अधिक महत्व दिया जाता है, फिर भी पैतृक सम्पत्ति में बेटियों को भी हिस्सा दिया जाता है। उनमें भाई-बहन की संतानों में विवाह करने का रिवाज है। उनमें तरह-तरह के विश्वास और अंधविश्वास हैं- जैसे शव का अन्तिम संस्कार करते समय सिर यदि किनारे की तरफ आ जाए तो अशुभ होता है। शादी-ब्याह, गृह-निर्माण ही नहीं बल्कि शव को घर से बाहर निकालने के लिए भी शुभ मुहूर्त निकाले जाते हैं। वहां पर स्त्री-पुरुष के शव को रखने और उनके संस्कार का तरीका भी अलग-अलग है।

मनपा लोग बड़े और सम्मानित व्यक्ति का सिर बहाते नहीं बल्कि उसे गाड़ देते हैं और बाद में लामा उस खोपड़ी का इस्तेमाल तांत्रिक पूजा में पात्र के रूप में अमृत रखने या मदिरा पीने के लिए करते हैं। शव का अंतिम संस्कार करते हुए थांपा स्वस्तिवाचन भी करते हैं। रिम्पोछे और नोरलजोम के शव को काटकर नदी में बहाया नहीं जाता, बल्कि उन टुकड़ों को इकट्ठा करके छोरतेन बनाकर समाधि बनाई जाती है।

पूर्वोत्तर की जनजातियों में भी सामाजिक रूप से श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का भाव पाया जाता है। तिब्बत के लोग मनपा लोगों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसीलिए कोई संभ्रांत तिब्बती अपनी बेटी की शादी किसी मनपा से नहीं करता।

दारगे नरगू के पूर्व पुरुष ने एक तिब्बती युवती से शादी करके बहुत बड़ी उपलब्धि हासिल की थी। गुई सेंगमू भी तिब्बत की थी, किंतु उसके मां-बाप संपन्न नहीं थे। समाज सेवा करने वाले थांपा से कोई अपनी बेटी की शादी नहीं करता, इसीलिए आउ थांपा ने अपने पालित पुत्र की शादी एक जारज युवती से करने का फैसला किया।

मनपा लोगों का भी यह विश्वास है कि सौतेली मां अच्छी नहीं होती, इसीलिए युवा पत्नी की मृत्यु के बाद रिजोम्बा के पिता लेकी ने दूसरी शादी नहीं की। एक मजेदार बात यह कि 'लोसेर' नामक नववर्ष के उत्सव में मनपा स्त्री-पुरुष खूब नाचते-गाते हैं, सामूहिक दावतें करते हैं, हंसी-मजाक करते हैं और शराब पीकर नशे की हालत में एक-दूसरे को गालियां देते हैं। इसे उत्तर भारत के होली के अवसर पर किए जाने वाले हंसी-मजाक और गालियों के समकक्ष रखकर देखा जा सकता है।

एक विचित्र बात यह है कि बौद्ध धर्मावलंबी मनपा, शेर दुकपेन और तिब्बती जनता के लिए रिम्पोछे बहुत सम्मानित लोग होते हैं। उनकी धारणा है कि मनुष्य जीवन दुर्लभ है और रिम्पोछे के रूप में जन्म लेना तो और भी दुर्लभ है। जबकि अरुणाचल की दूसरी जनजातियों और गैर बौद्ध धर्मावलंबियों की दृष्टि में रिम्पोछे सामान्य स्त्री-पुरुष ही होते हैं।

यह उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण है। अरुणाचल में 1950 में भीषण भूकंप आया था जिससे तवांग अंचल के अनेक गांव पूरी तरह तबाह हो गए थे। 1951-52 तक मनपा अंचल तिब्बत का हिस्सा था। तिब्बत अधिकारी मनपाओं का शोषण करते थे, लेकिन 1952 में तिब्बती सरकार ने तवांग का प्रशासन भारत सरकार को हस्तांतरित कर दिया। भारतीय प्रशासन की जड़ें मजबूत करने के लिए वहां पर नए प्रशासनिक केंद्र खोले गए।

तिब्बतियों को भारत से बहुत उम्मीदें थीं। उसी दौर में दलाई लामा भागकर भारत आए और दिरांग में उन्होंने कालचक्र की पूजा की। कालचक्र पूजा यानी महायानी बौद्धों की तांत्रिक पूजा। मनपाओं का विश्वास था कि भारत के हस्तक्षेप से उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन मनपाओं में इस खबर से खलबली मच गई कि चीन का नया नास्तिक शासक, जिसका नाम माओ है, तिब्बत से धर्म को नष्ट कर देगा।

अरुणाचल प्रदेश के तवांग अंचल का जीवन, वहां के लोगों के आचार-विचार, संस्कृति, जीवन मूल्य कई बद्धमूल धारणाओं को इतनी सहजता से पेश करने वाला यह उपन्यास प्रेमचंद के शब्दों में सचमुच 'जीवन की आलोचना' बन गया है। विषयवस्तु की नवीनता, कथा-संरचना और उपन्यासकार की प्रगतिशील दृष्टि के कारण यह उपन्यास भारत के अच्छे उपन्यासों में से एक है।

इसी क्रम में 'नामखाछू नदी की तंग घाटी पर स्वामित्व को लेकर भारत और चीन सरकार के बीच शत्रुता पैदा हो गई। यही पर आपरेशन ओंकार के जरिये धोला पोस्ट बनाने के बाद चीन और भारत के बीच युद्ध की नौबत आ गई।' (पृष्ठ-118)

नामखाछू के विस्तृत भूखंड को लेकर स्थानीय लोगों की धारणा है कि यह जमीन अभिशप्त है और इसको लेकर यहां पीढ़ियों से खून-खराबा होता आ रहा है। इस युद्ध में बहुत से मनपा मारे गए। इस उपन्यास का नायक दारगे नरबू भी किसी न किसी रूप में युद्ध से जड़ा रहा। दारगे के साथी उसी हमले में मारे गए थे।

चीनियों की दृष्टि में तिब्बती जमींदार भी शोषक थे। वहां के लामा धर्म की दुहाई देकर साधारण मजदूरों का शोषण करते थे। इसीलिए माओत्से तुंग ने मुक्त वाहिनी की सहायता से तिब्बती जनता को मुक्ति दिलाई। थोंगछी ने लिखा है कि दलाई लामा, तवांग महकमा के तत्कालीन एडीशनल पोलिटिकल ऑफिसर मिस्टर टी.के. मूर्ति और आर्मी कमांडर लेफ्टिनेंट जनरल निरंजन कुमार को छोड़कर सारे चरित्र काल्पनिक हैं। (भूमिका) इन तीन व्यक्तियों के कारण और भारत-चीन युद्ध से तवांग में जिस तरह की उथल-पुथल मची हुई थी उससे ये काल्पनिक चरित्र जीवंत और स्वाभाविक बन गए हैं।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी यही है कि इसका कोई प्रसंग काल्पनिक नहीं लगता। अरुणाचल प्रदेश के तवांग अंचल का जीवन, वहां के लोगों के आचार-विचार, संस्कृति, जीवन मूल्य, कई बद्धमूल धारणाओं को इतनी सहजता से पेश करने वाला यह उपन्यास प्रेमचंद के शब्दों में सचमुच 'जीवन की आलोचना' बन गया है। विषयवस्तु की नवीनता, कथा-संरचना और उपन्यासकार की प्रगतिशील दृष्टि के कारण यह उपन्यास भारत के अच्छे उपन्यासों में से एक है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन-संघर्ष के साथ-साथ यह उपन्यास व्यक्ति को विरक्ति की ओर नहीं, अनुरक्ति की ओर ले जाता है।

समग्रता में यह उपन्यास व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक दायित्व से जुड़ा है और इसका मूल स्वर मानवतावादी है। थोंगछी यह दिखाना चाहते हैं कि जिन्हें हम बहुत क्रूर, हृदयहीन, असामाजिक और अमानवीय मानते हैं उनके हृदय में भी कितना निश्छल और वासनारहित प्रेम विद्यमान होता है। मनुष्य स्वयं में अच्छा या बुरा नहीं होता बल्कि परिस्थितियां उसे अच्छा या बुरा बना देती हैं। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 30

समीक्षा

बदलाव की आकांक्षा से पैदा हुई बेचैनी

■ **विजय शर्मा**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: 326, न्यू सीताराम डेरा, एग्रीको, जमशेदपुर-831009

सत्य नारायण पटेल एक गंभीर लेखक हैं, समय-समाज पर तीखी निगाह रखने वाले। वह एक जुझारू, कर्मठ, प्रतिबद्ध और पाठकों के पसंदीदा कहानीकार के रूप में जाने-माने जाते हैं। सत्य पटेल मालवा की खुशबू से हिंदी जगत को सुगंधित बनाए हुए है। अभी तक वे केवल कहानियां लिख रहे थे। 'गांव भीतर गांव' उनका पहला उपन्यास है। इस उपन्यास को जब मैंने पढ़ना शुरू किया तो डूबती चली गई।

कई बार लेखक को याद नहीं रहता है कि लिखते समय वह किसके प्रभाव में था। कोलंबियन लेखक गैब्रियल गार्शा मार्केस लिखते समय संगीत सुना करते थे, मगर यह बात उनके चेतन में न थी। बहुत दिनों बाद उनके कुछ पाठकों ने उन्हें बताया कि उनके लेखन पर संगीत का गहरा प्रभाव है। मैं संगीत की जानकारी का कोई दावा नहीं करती हूं बल्कि मुझे अफसोस है कि संगीत में मैं सिफ़र हूं। फिर भी सत्यनारायण पटेल का पहला उपन्यास पढ़ते हुए मुझे निरंतर उसमें एक धुन सुनाई पड़ती रही। नहीं जानती इस धुन का संगीत से कितना वास्ता है लेकिन मुझे यह धुन परिवर्तन की धुन लगी, बल्कि परिवर्तन के लिए बेचैनी की धुन लगी। शुरू से आखिर तक उपन्यासकार परिवर्तन की आकांक्षा से प्रेरित है। जी-जान से चाहता है कि परिवर्तन हो। वह सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन की पुरजोर कोशिश करता है। इसके लिए वह अपने पात्रों से भरपूर संघर्ष करवाता है। सफलता और असफलता उतना मायने नहीं रखती है जितना मायने किया गया प्रयास रखता है।

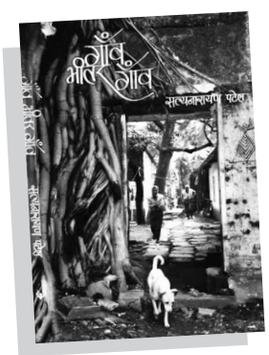

पुस्तक: गांव भीतर गांव,
लेखक : सत्यनारायण पटेल
प्रकाशक: आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा
प्रकाशन वर्ष: 2015
मूल्य: ₹ 320

उपन्यास की शुरुआत एक हृदयविदारक दृश्य से होती है। घर-परिवार का कर्ता मर गया है। झब्बू विधवा हो गई है। वह अकेली नहीं है। उसकी गोद में एक छोटी बच्ची है। इस दुखद चित्रण की काव्यात्मक भाषा से कलेजा मुंह को आता है। बीस-इक्कीस साल की झब्बू मातम मनाती बैठी नहीं रहती है, शीघ्र उठ खड़ी होती है। स्त्री, विधवा, गोद में एक बच्ची और सबसे कठिन बात कि वह दलित है। ऐसे में आसान नहीं है झब्बू का आगे का सफर। लेकिन वह कमर कस लेती है और एक-एक कर सफलता की सीढ़ियां फलांगती जाती है। अपने साथ-साथ दूसरों को भी आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास करती है और उसमें भी सफल होती है। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार कोई यूटोपिया रच रहा है। मगर ऐसा है नहीं, सत्य नारायण पटेल हमें हमारे आज के समय और समाज का आईना दिखा रहे हैं। यहां यूटोपिया कहीं नहीं है वरन पूरे उपन्यास में असल में भीतर-भीतर एक डिस्टोपिया अपना मकड़जाल फैलाए हुए है। झब्बू उसमें फंसती चली जाती है। उसकी महत्वाकांक्षाएं, सत्ता का नशा उसे ले डूबता है, स्वयं उसकी बेटी को जब उसकी सच्चाई का पता चलता है तो उसका भी अपनी मां से मोहभंग हो जाता है। बेटी ने ही जिद करके, अपने कौशल से मां को राजनीति के क्षेत्र में उतरने को मजबूर किया था।

सत्ता-शक्ति संपन्न लोगों के लिए किसी को नष्ट कर डालना बड़ा आसान होता है, वे इसका गुर जानते हैं। 'गांव भीतर गांव' में युवा-जोशीली रोशनी के साथ यही होता है। यह एक बहुत दर्दनाक नजारा है। यह सब तब होता है जब आस-पड़ौस के लोग सो रहे होते हैं। सो रहे होते एक रूपक है। वैसे यदि जग रहे होते तब क्या होता? तब भी यही होता। हम असंवेदनशील लोगों का झुंड बन कर रह गए हैं। हमारी आंखों के सामने अन्याय होता है, अत्याचार होता है और हम मूक-बधिर बन सब देखते रहते हैं, आंख के होते हुए भी अंधे बने रहते हैं। समाज के हाड़-मज्जा में धंसी सामंती व्यवस्था, पुरुष वर्चस्व को यह उपन्यास बेहद प्रभावी ढंग से चित्रित करता है।

उपन्यास सत्ता-शक्ति का प्रदर्शन दिखाता है। राजनीति का पूर्णरूपेण अपराधीकरण आज के

समाज और समय की वास्तविकता है और सत्यनारायण पटेल ऐसा ही यथार्थवादी उपन्यास लिख रहे हैं, जिसमें 21वीं सदी की यथास्थिति को मजबूती से बनाए रखने वाला समाज चित्रित है। भूमंडलीकरण, बाजारवादी आंधी, महिला सशक्तिकरण, पंचायती राज, सर्वशिक्षा अभियान के बावजूद हमारे जकड़न भरे विचारों में रत्ती भर भी फर्क नहीं आया है। हां, राजनीति, अर्थनीति का चेहरा और अधिक शातिर हो गया है। समाज दो कदम आगे बढ़ता है तो तीन कदम पीछे सरक जाता है। झब्बू जैसे लोगों का प्रयास तालाब में कंकड़ की तरह हैं जो तनिक सी लहर उठाते हैं और फिर सब शांत हो जाता है, जल पर फिर से काई जम जाती है। यथास्थिति कायम हो जाती है। पटेल की सफलता है कि उन्होंने पानी में हलचल पैदा करने की कोशिश की है।

के एच आरा की एक कलाकृति

उपन्यास स्त्री की शक्ति और सीमा को चित्रित करता है। 'गांव भीतर गांव' स्त्री सशक्तिकरण की दिशा में आगे बढ़ता है, लेकिन स्त्री को देवी नहीं बनाता है, झब्बू अंत तक मानवी बनी रहती है। उसमें सामान्य मनुष्य की भांति अच्छाई-बुराई दोनों का मिश्रण है। वो विकसित होती है, उन्नति की ओर अग्रसर होती है मगर राजनीति की बुराइयों से नहीं बच पाती है और तब उपन्यासकार के पास उसकी हत्या करवाने के अलावा कोई अन्य उपाय नहीं बचता है। हां, जाम सिंह जैसे नरपशु का अंत जग्गा जैसे पागल कर देते हैं, यह भी उपन्यास का एक सकारात्मक पक्ष है।

उपन्यास विधा में कई बातों को समेटने की गुंजाइश होती है। उपन्यास 'गांव भीतर गांव' एक बड़े फलक पर चित्रित है। इसमें अशिक्षा की हानियां, शिक्षा के लाभ, शिक्षा में सवर्णों का नजरिया, दलितों पर अत्याचार, मनरेगा, शौचालय निर्माण, राजनीति का घिनौना चेहरा, भ्रष्ट तंत्र, राजनीति-अपराध गठजोड़, शराबबंदी, राजनीति में महिला आरक्षण, ठेका राज, पंचायती राज, न्यायालय में बरसों लटकते मुकदमे, एनजीओज आदि विभिन्न मुद्दे और कोढ़ में खाज जातिवाद का मुद्दा भी उठाया गया है। यह उपन्यास दुख-सुख, स्वप्नों, आशाओं-आकांक्षाओं की और उनके नष्ट होने, उनके क्षय होते जाने की एक गाथा है। एक दलित स्त्री की अपनी अस्मिता के लिए किए गए प्रयास की, एक कर्मठ नारी के उत्थान-पतन की गाथा है। झब्बू का संघर्ष एकतरफा नहीं बल्कि चहुतरफा है। एक ऐसी स्त्री का संघर्ष है जो न केवल अपना विकास करती है वरन दूसरों के विकास का बायस बनती है। दूसरी दलित स्त्रियों-बालिकाओं को एकजुट कर उन्हें संघर्ष के लिए तैयार करती है। वह पुरुषसत्ता, जातिवाद, लिंगवाद सबसे टक्कर लेती है, कई बार सफल होती है। मगर विडंबना है कि अंत में इन्हीं के हाथों हार जाती है।

झब्बू सत्ता में अपनी पैठ बनाती है परंतु अंततः सत्ता के हाथ में कठपुतली बन कर रह जाती है। कहां है सत्ता का विकेंद्रीकरण? नारों का खोखलापन उपन्यास खोल कर दिखाता है। झब्बू एक जुझारू स्त्री है जो स्वप्न देखती है और उन्हें पूरा करने के लिए भरपूर संघर्ष करती है। जितनी बार वह आगे बढ़ने की चेष्टा करती है उतनी बार कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष रूप से उसे पीछे खींचने के लिए दुष्ट अपनी पूरी ताकत झोंक देते हैं। वह अपनी मेहनत-लगन से भौतिक सुख-सुविधाएं भी जुटाती है, उसके पास सब कुछ आ जाता है लेकिन इसके साथ-साथ उसका पतन भी शुरू हो जाता है। सरकारी अमलों को घूस देने के लिए वह भी तीन-पांच शुरू कर देती है। बिना किए गुजारा नहीं था। मगर गलत तो गलत होता है, यह बात रोशनी उसके मुंह पर कहती है और बेटी मां से दूर हट जाती है। रोशनी में अक्ल है लेकिन धैर्य नहीं, वह तेजी से आगे बढ़ती है मगर वह भी सत्ता-शक्ति के आगे बेबस हो जाती है। यहां शक्ति अपने पूरे दल-बल के साथ अन्याय के साथ खड़ी नजर आती है। समाज के अधिकांश लोग यथास्थिति बनाए रखने में अपनी भलाई समझते हैं। बदलाव की झंझट मोल नहीं लेना चाहते हैं। पूर्वग्रह और जकड़बंध से भरे समाज में परिवर्तन लाना एक बहुत कठिन प्रक्रिया है जिसमें झब्बू

जैसे कई लोगों की आहुति पड़नी है।

समाज में एक नहीं कई रावण हैं। 'गांव भीतर गांव' में एक नहीं कई खलनायक हैं। दौलत पटेल, जाम सिंह, माणक पटेल, माखन शुक्ला, गणपत तो है हीं। कलाली, मैला ढ़ोना, राजनीति भी खलनायक की भूमिका में हैं। जाम सिंह की हनुमान भक्ति जुगुप्सा जगाती है। इस नरपशु को किसी की जान लेने में कभी कोई संकोच नहीं होता है। लेकिन जब अपनों पर विपत्ति आती है तो बाप-बाप करने लगता है। एक चरित्र का विकास होता यहां दिखाई देता है वह पुलिसवाला रमेश जाटव है। उसमें मनुष्यता जगती है, वह झब्बू के साथ खड़ा होता है। उसने खड़े होने में काफी देर लगा दी है।

सत्यनारायण पटेल की अवलोकन क्षमता की दाद देनी होगी। एक बात जो साहित्यकार पटेल के संबंध में रेखांकित की जानी चाहिए, वह है उनका प्रकृति प्रेम, उनका पशु-पक्षी लगाव। उनकी कहानियों में अक्सर पशु-पक्षी अनायास कहानी का हिस्सा बन जाते हैं। 'गांव भीतर गांव' में स्थान-स्थान पर ग्रामीणों के सुख-दुख में उनका साथ देते मोर, होला, कबूतर, चिकी, कौवे, गिलहरी हैं। प्रकृति पात्रों के सुख-दुख में साथ देती है। उनका यह लगाव 'गांव भीतर गांव' के कवर पर भी नजर आता है। सत्यनारायण एक बहुत अच्छे फोटोग्राफर हैं, कवर पेज पर उन्हीं के द्वारा लिया गया एक अति सुंदर फोटोग्राफ है। उपन्यास के शीर्षक और कथानक को मूर्तिमान करता हुआ फोटोग्राफ बड़ा मानीखेज बन पड़ा है।

इस उपन्यास में पटेल ने एनजीओज की अच्छी खबर ली है। उनके स्वार्थी, शातिर, अवसरवादी चेहरे को उघाड़ा है। अधिकांश गैरसरकारी संगठन फंड हड़पने के लिए ही खड़े किए जाते हैं। गिद्ध की तरह वहीं मंडराते हैं जहां उनकी स्वार्थसिद्धि होती है। उपन्यास का रफीक भाई अपनी रैलियों के लिए दलितों को ले जाने के लिए खूब भाग-दौड़ करता है। एनजीओज वाले

पाठक उपन्यास के अंत से थोड़ा अचंभित रह जाता है, थोड़ा निराश होता है। उसे 'पोएटिक जस्टिस' की अपेक्षा होती है। मगर साथ ही वह यह भी जानता है कि जीवन में कहां होती है 'पोएटिक जस्टिस'। पटेल ने हमें आईना दिखाया है। यही हमारा समाज है, यही वास्तविकता है। यदि समय रहते हमने इसे बदलने की कोशिश न की तो न जाने कितनी झब्बुओं को स्वार्थी ताकतों की बलि चढ़नी होगी।

समस्याओं को अपने हित में भुनाते हैं। वे कदाचित ही समस्या के समाधान के लिए काम करते हैं।

दरअसल, यदि समस्याएं हल हो गईं तो इनकी दुकान कैसे चलेगी। गांव का पटेल एनजीओज के रग-रेशे से परिचित है। सत्यनारायण पटेल जम कर उनकी पोल-पट्टी खोलते हैं। वे खुद भी इन संस्थाओं से जुड़े रहे हैं अत: इनका भीतर-बाहर जानते हैं। हालांकि बाद में उपन्यास का रुख रफीक भाई के प्रति थोड़ा नरम पड़ जाता है। उसे गरीबों के साथ खड़ा दिखाता है। वह झब्बू की सहायता करता है।

कथारस के बिना कहानी-उपन्यास की कल्पना करना कठिन है। सत्यनारायण की एक विशेषता कथारस है। वे कहानी कहना जानते हैं और बखूबी जानते हैं। मालवा की सभ्यता-संस्कृति को साहित्य में स्थापित करने में उनका अभूतपूर्व योगदान है। पात्रानुकूल बोली-बानी पाठक को पात्रों के करीब ले आती है। कहानी के बीच-बीच में हास्य-व्यंग्य का छौंक सरसता बनाए रखता है। हास्य-व्यंग्य ग्रामीणों की विशेषता है, उनकी जिजीविषा का जीवन रस। वे कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी हँस सकते हैं, हँसा सकते हैं। सीधे-सादे दिखने वाले ग्रामीण आदमी पहचानना जानते हैं। साहित्यकार की ग्रामीण जीवन पर गहरी पकड़ है। जो लोग हिंदी साहित्य में ग्रामीण जीवन के चित्रण के अभाव का रोना रोते हैं उन्हें यह उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए। यहां गांव अपने पूरे हाव-भाव, अच्छाई-बुराई, हास्य-व्यंग्य, अपने हर रंग, अपनी हर छटा के साथ पूरा-पूरा साकार है।

पाठक उपन्यास के अंत से थोड़ा अचंभित रह जाता है, थोड़ा निराश होता है। उसे 'पोएटिक जस्टिस' की अपेक्षा होती है। मगर साथ ही वह यह भी जानता है कि जीवन में कहां होती है 'पोएटिक जस्टिस'। पटेल ने हमें आईना दिखाया है। यही हमारा समाज है, यही वास्तविकता है। यदि समय रहते हमने इसे बदलने की कोशिश न की तो न जाने कितनी झब्बुओं को स्वार्थी ताकतों की बलि चढ़नी होगी, न जाने कितनी संभावनाशील रोशनियां जेल की काल कोठरियों में दम तोड़ने को मजबूर होंगी। दर्पण में अपना चेहरा देखना हो, आज के समय-समाज को निरखना हो तो 'गांव भीतर गांव' पढ़ा जाना चाहिए। परिवर्तन की धुन सुनी जानी चाहिए, समझी जानी चाहिए। उपन्यास में सत्यनारायण पटेल की सटीक अवलोकन शक्ति, समाज-राजनीति की समझ में गहरी पैठ, कुशल चित्रण शैली, भाषा पर मजबूत पकड़ के दर्शन होते हैं। आज के समय-समाज का दर्शन कराता उपन्यास 'गांव भीतर गांव' पढ़ा जाना चाहिए, गुना जाना चाहिए। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 33

समीक्षा

जीवन की जटिलताओं की सहज अभिव्यक्ति

■ **शिवदयाल**
सुप्रसिद्ध समीक्षक

संपर्क : 103बी, पूजा निवास अपार्टमेंट, महेश नगर, बोरिंग रोड (पानी टंकी), पटना-800024

पुस्तक: अंतर निरंतर
कवयित्री: उषा मेहता
मराठी से अनुवाद : रेखा देशपांडे
प्रकाशक: परिदृश्य प्रकाशन, 1, अनमोल, सोराबजी संतुक लेन, धोबी तालाब, मरीन लाइन्स (पूर्व) मुम्बई-400002,
प्रकाशन वर्ष: 2015
मूल्य: ₹ 200

उषा मेहता मराठी साहित्य का एक प्रतिष्ठित नाम है। अब तक उनके पांच कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। यह एक सुखद सुयोग घटित हुआ है जो उनका संग्रह 'अंतर-निरंतर' मराठी से हिंदी में अनूदित होकर आया है। अनुवादिका रेखा देशपांडे हैं जो फिल्म समीक्षा तथा भाषानुवाद क्षेत्र की प्रमुख हस्ताक्षर हैं। हिंदी काव्य रसिकों के लिए यह दोहरी उपलब्धि!

'अंतर-निरंतर' में उषा जी की एक सौ पांच कविताएं सग्रहित हैं, जिनमें से अधिकांश छोटी कविताएं ही हैं। कुछ कविताएं लंबी हैं, जैसे - 'कोनिफर सर्कल' तथा 'राग बिलावल' जो फिर भी बहुत लंबी नहीं कही जाएंगी। उषा जी की कविताओं पर बात करते समय यह सीमा जरूर बन रही है कि उनका यह एक ही संग्रह नजर में है, उनकी काव्य यात्रा या विकास का आकलन करना और तब इस समीक्ष्य कृति की स्थिति निश्चित करना संभव नहीं हो पाएगा। इसलिए इस कृति पर ही स्वतंत्र रूप से विचार करना है, और इसका अर्थ होगा एक सौ पांच रचनाओं पर बात करना जो कोई ऐसी साधारण बात भी नहीं होगी।

हाल के वर्षों में मराठी कविता में स्त्री-स्वर प्रमुखता से उभरा है, विशेषकर महानगर मुंबई में अनेक कवयित्रियों ने अपनी सार्थक रचनाओं से पाठकों का ध्यान खींचा है। महानगरीय जीवन-स्थितियों-आम आदमी के संघर्षों, विरोधाभासों और विडंबनाओं की नहीं, आशाओं और आकांक्षाओं को भी इनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति मिली है। लेकिन विशेष बात यह है कि इनकी देखी दुनिया स्त्री की आंखों से देखी गई दुनिया है। हमारे समाज में आम आदमी पर जो दबाव हैं उनके अतिरिक्त एक स्त्री पर पितृसत्ता, उसके मूल्यों और वर्जनाओं का भी अलग से दबाव है और उसे जीवन भर इनके साथ रहना पड़ता है। भारत के ग्रामीण समाज में पितृसत्ता अधिक मजबूत और बाध्यकारी है, लेकिन मुंबई जैसे महानगर में यह अनुपस्थित या बहुत कमजोर हो, ऐसा नहीं है। बल्कि भौतिकतावाद और बाजारवाद ने स्त्री-अस्तित्व के लिए आज अलग से चुनौती खड़ी कर दी है। एक ओर तो लोकतांत्रिक और आधुनिक मूल्यों ने समाज जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री के लिए जगह बनाई है लेकिन वहीं बढ़ती भौतिकता, अंधी स्पर्धा, मानवीय मूल्यों में गिरावट ने एक भयावह स्थिति भी पैदा कर दी है। बाजारवाद ने स्त्री का वस्तुकरण कर दिया है और यह स्थिति जब पितृसत्ता के ढहते मूल्यों से जुड़ती है तो भ्रूण के स्तर पर ही स्त्री-अस्तित्व को चुनौती प्रस्तुत हो जाती है।

उषा मेहता की 'अंतर-निरंतर' की कविताओं में इन स्थितियों की छाया स्पष्ट ही महसूस की जा सकती है। लेकिन उषा जी की कविताओं को प्रतिरोध की कविताओं की श्रेणी में नहीं रख सकते। वास्तव में अपने अंदर और बाहर फैले-पसरे जीवन को जीते-भोगते जो उनका काव्य-वितान बनता है, उसमें प्रतिरोध एक हिस्सा ही घेर सकता है उसका बहुलांश नहीं। उषा जी की कविता में जो संशय, अलगाव और दुविधा बार-बार उभर कर आती है वह वास्तव में जीवन की जटिलताओं और अनिश्चितताओं से उपजी है, सिर्फ प्रतिकार से उनका समाधान नहीं हो सकता।

व्यक्ति और समाज, स्त्री और पुरुष, मनुष्य और प्रकृति के संबंध सूत्र और अंतर्मन पर पड़ते इनके प्रभावों का अंकन इन कविताओं में हुआ है। और तब भी-

'साथ नहीं देते शब्द आतंरिक
अंतरतम की बात कहने में
'तुम और मैं' नहीं समाते
जीवन के धागे में...'

जीवन के इस धागे का कोई ओर-छोर नहीं है, और तिस पर उसमें इतने उलझाव कि एक जीवन में ही मानो कई-कई जीवनानुभव होते हैं-

'इसी जीवन में पा लें
कई-कई जीवनानुभव...।

उषा मेहता की कविता के केंद्र में है संबंध!

संबंधों के आइने में जीवन का रूप और विद्रूप दिखता है। संबंध केवल व्यक्ति-व्यक्ति या स्त्री-पुरुष अथवा व्यक्ति-समाज के बीच ही नहीं पल रहे, ये मनुष्य और पशु (बिल्ली), यहां तक कि निर्जीव जाला के बीच भी सजीव होने लगते हैं-

'दुष्टता से पंखा चला दिया मैंने
तेज रफ्तार से
फिर चुप हो गया वह टुच्चा जाला
पंखे की तेज रफ्तार ने आखिर उड़ा ही दिया उसे
अब आ बसा है जाला
मेरे मन में, सदा के लिए...।'

अनेक स्थानों पर संबंधों की अनिश्चितता, उनको लेकर आशंका और भय पाठक को अकेलेपन और अवसाद की सीमा में धकेल देते हैं। अंतरंगतम क्षणों में विश्वास और समर्पण के स्थान पर संदेह और प्रश्नाकुलता से पाठक ठगा रह जाता है-

'चूमते होठों में
कौन-से गुलाबों की पंखुड़ियां मसली गईं...'

'तेज, तने हुए तारों पर
तना हुआ यह मन
तारों के टूटने की आशंका लिए हुए
हर क्षण...'

'मगर अब जान गई हूं पूरी तरह
कि वह दुष्ट भंवरा तुम ही हो!

ऐसे उद्दाम समर्पण के अवसर और स्थितियां विरल हैं-

'मन सूखे नदी-तल-सा
रेत-रेत
टूटे, ढह चुके घाट-सा
जीना अर्थहीन
सिर पर आया है यह,
बरसने को उतारू
आओ... जब चाहो... जैसे चाहो
भर लोगे बाहों में बरबस
तब न रहेगी वह आपे में
समेटती हुई तीर दोनों,
बहती हुई बरबस
नहीं सोचेगी भला-बुरा।'

हाल के वर्षों में मराठी कविता में स्त्री-स्वर प्रमुखता से उभरा है, विशेषकर महानगर मुंबई में अनेक कवयित्रियों ने अपनी सार्थक रचनाओं से पाठकों का ध्यान खींचा है। महानगरीय जीवन-स्थितियों, आम आदमी के संघर्षों, विरोधाभासों और विडंबनाओं की नहीं, आशाओं और आकांक्षाओं को भी इनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति मिली है। लेकिन विशेष बात यह है कि इनकी देखी दुनिया स्त्री की आंखों से देखी गई दुनिया है।

उषा जी के यहां जो आत्मालाप, अनमनापन और झिझक है वह कभी-कभी आत्मीय लगता है लेकिन स्त्री-पुरुष संबंधों पर पितृसत्ता का जो शिकंजा है इसकी विलक्षण अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है-

'मत झांको इन आंखों में
... क्या मिलेगा?
बरसों की वंचनाओं के
धधकते शोले?
समझ पाओगे?
भरे दरबार में
पांचाली का एकाकीपन...?'

दो स्तरों पर यह द्वंद्व, यह लड़ाई चल रही है- एक अपने अंदर अपने आप से, और दूसरी व्यवस्था से जो एक स्त्री के लिए और भी उत्पीड़क है। अनेक कविताओं में स्त्री-पुरुष असमानता तथा स्त्री उत्पीड़न के खिलाफ आक्रोश व्यक्त हुआ है, जैसे- 'गुलेलें', 'अब ना', 'बाघ', 'बहन जी, क्या करें?', 'मौ मिलते ही' आदि।

वर्जनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है-

'घुटन होती है चारदीवारी में
चाहिए जरा सी हवा खुली-खुली
जरा सा आसमान
साफ, नीला...'(घुटन)।

'सर्वनाश' कविता स्त्रियों के खिलाफ प्रच्छन्न हिंसा पर केंद्रित है-

'पढ़े-लिखे पुरुष
हाथ नहीं उठाते बीवी पर
कभी भी वो पगली तो
शब्दों के फूलों से ही
हो जाती है घायल
पढ़े-लिखे पुरुष यह तो सोचेंगे ही
कि ऐसा क्या तीर मार लिया
जो चूल्हा फूंका
और बच्चे जने...
पढ़ी-लिखी को लगता है
चूल्हे-चौके और
बाल-बच्चों के सिवा
जिंदगी में रखा ही क्या है?'

महान भारतीय परंपरा' से चलकर बाजारवादी आधुनिकता में पहुंची औरत का सजीव लेकिन मन में ग्लानि भर देने वाला चित्र खींचा गया है इन पंक्तियों में-

'छोटा परदा आ गया है अब घर में ही
दिन-रात मचलती मालदार सुंदरियां
कभी नकली बरसात में भीगतीं
गीले वस्त्रों में लिपटीं
मटकते हीरो के साथ
फुरसत निकाल
उन्हीं से बहला लें दिल को
कमसिन बाल-बच्चों के साथ
नारीत्व की कीमत को आजमाते हुए!'

अपनी कविताओं में उषा मेहता यह तथ्य स्थापित करने में सफल रही हैं कि स्त्री के लिए दु:ख के मायने और हैं, इसके रंग और

हैं। स्त्री के लिए जीना गीली लकड़ी की तरह पहले सुलगना फिर जल जाना है (गीली लकड़ियां)। इन दु:खों से लड़ने, इनसे मुक्ति दिलाने में पुरुष प्रभुत्व वाले संसार से कोई आशा नहीं, 'बस एक अपवाद/ कृष्ण नामक मर्द का....शायद!' यहां पुरुष समाज से 'कृष्णत्व' की एक अपेक्षा भी है जैसे।

उषा मेहता की कविताएं मूलत: संवेदना से भरी हैं और प्राय: अनुभूतिकारक हैं। लेकिन कहीं-कहीं वे अद्‌भुत बिंब रचती हैं और पाठक को विस्मित कर देती हैं-

'अब तक जो शोर मचा रही थी लहरें
हट चली हैं पीछे
बची रह गई है गीली झुर्रियां
शाम के धुंधलके को समेटती हुई
सूखी रेत में...',

यहां एक कमाल का बिंब खड़ा हुआ है-

'मेरी दादी/मेरी ही छाया
भविष्य की रोशनी में
लंबी बिछी हुई।'

'शान से चल पड़ा है घोंघा' एक प्रतीकात्मक कविता है। घोंघा शान से, निरापद भाव से अपना घर अपनी पीठ पर उठाए चला जा रहा है कि खतरे की आहट मिलते ही अपने खोल में छुप जाएगा वह! लेकिन विडंबना यह है कि घोंघा इस बात से अनजान है कि 'घोंघों की दुर्घटनाओं से/भरी पड़ी है फिजा!' यानी विपत्तिकारी समय में घोंघा वृत्ति हमारी मदद नहीं कर सकती, इस कविता का आशय यही है।

यहां यह कहने की जरूरत महसूस होती है कि उषा जी के यहां ऊंची कल्पनाओं को आशंकाएं ग्रस रही हैं और मानो एक संभावना बनते-बनते रह जाती है। वह स्वाभाविक रूप से उमंग, उछाह, ओज और उल्लास की कवयित्री नहीं है। उनके यहां उदासी है, एकाकीपन है, सूनापन है। एक दुश्चक्र है और जैसे इससे मुक्ति का उपाय नहीं है। यह निरुपायता कहीं-कहीं क्लेश देती है-

'खो चली दिशाएं
धावा बोलता हुआ
बढ़ता चला आ रहा समंदर

'शान से चल पड़ा है घोंघा' एक प्रतीकात्मक कविता है। घोंघा शान से, निरापद भाव से अपना घर अपनी पीठ पर उठाए चला जा रहा है कि खतरे की आहट मिलते ही अपने खोल में छुप जाएगा वह! लेकिन विडंबना यह है कि घोंघा इस बात से अनजान है कि 'घोंघों की दुर्घटनाओं से/भरी पड़ी है फिजा!' यानी विपत्तिकारी समय में घोंघा-वृत्ति हमारी मदद नहीं कर सकती, इस कविता का मूल आशय यही है।

खूंखार लहरें लिए
अंधकार भी झपटता हुआ
आने वाले उफान के साथ
किनारे पर आ बिखरने वाली
तबाही के तमाम आसार...।'

कविता उषा मेहता के लिए- 'स्वयं को खोजने की एक अनिवार्य प्रक्रिया है।' संग्रह के अंत-अंत तक यह उद्यम अधिक द्रष्टव्य हो जाता है। उम्र के इस पड़ाव पर आत्म-साक्षात्कार के अवसर आते रहते हैं-

'कई बरसों से नहीं हुई थी मुलाकात
अपनी अपने आप से
समझ नहीं आया था रिश्ता अपना
अपने आप से' (अपने आप से),

'शायद
मेरी एकांत साधना
फली नहीं अभी तक
एकांत के अंतरिक्ष में
नहीं मिली मैं अपने आपको...'
(जाना है उस पार)।

यहां कहीं अधिक प्रौढ़ रचनाएं देखने को मिलती हैं। यहां कवयित्री सभ्यता के संकटों की पहचान करती मिलती है, उसकी दृष्टि सात समुंदर पार तक विस्तार पाती है जहां दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश अंदर से रीता-रीता नजर आता है। परमाणु अस्त्रों के ढेर पर जिन लोगों ने दुनिया को ला बिठाया है, अब समय उनके खिलाफ खड़े होने का, उन्हें चुनौती देने का आ गया है -

'युद्ध विरोधी शांति सभा में
अब भभक उठेगा दावानल।'

(खुला, मस्तमौला सुर उसका)। और तब यह आत्म-स्वीकार कवयित्री के मन में आता है-

'बाकी सारे कंटीले फल
उठा फेंके हैं दूर कबके
अब सहज ही पार कर जाऊंगी
दुर्घट यह घाट'
(दुर्घट यह घाट)।

संग्रह का अंत जिस कविता से होता है वह सचमुच बहुत सुंदर कविता है- 'सिहरन में यूं ढले हुए।' यहां कवयित्री ने एक गायिका से अपने को एकाकार कर लिया है और उससे मनुहार करने के बहाने कहीं अपने से कह रही है, उत्प्रेरित कर रही है-

'आज तुम गाओ सखि, सज रही
महफिल है
सुनने वाले उत्सुक और साज सुर
लगाते हुए...।'

और कैसा सुंदर सार्थक अंत इस कविता का इन पंक्तियों में हुआ है-

'भैरवी गाई जा चुकी,
हृदय कमल खिला-खिला-सा
जगत चांदनी बन खामोश,
फिर भी सिहरा-सिहरा-सा।'

यहां जीवन के साथ-साथ मानो कवि-कर्म भी अपनी अर्थवत्ता पा जाता है! ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 36

समीक्षा

सामाजिक विसंगतियों पर तीखी नजर

■ **वेंकटेश कुमार**
आलोचक

संपर्क : रूम नं. 27, बी-4, मजार गली, क्रिश्चियन कालोनी, मॉरिस नगर दिल्ली-110007

पुस्तक : बातें मुलाकातें, आत्मपरक-साहित्यपरक
लेखक : मनोहर श्याम जोशी
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹ 395

मनोहर श्याम जोशी के पाठकों के लिए उपहार है- 'बातें-मुलाकातें, आत्मपरक साहित्यपरक' शीर्षक किताब। यह किताब मनोहर श्याम जोशी के साक्षात्कारों और लेखों का संग्रह है। भगवती जोशी ने इधर-उधर बिखरे इन साक्षात्कारों और लेखों को पुस्तक का रूप दिया है। इस पुस्तक से गुजरते हुए हम जोशी जी के व्यक्तित्व के कई अनजान पहलुओं से तो परिचित होते ही हैं, साथ ही इनके समकालीन अनेक लेखकों के दिलचस्प विचार हमें गुदगुदाते भी हैं। इस किताब में एकाधिक स्थलों पर जोशी जी ने अनौपचारिक बातचीत या टेबल-टॉक को आधार बनाकर कई बातें पेश की हैं, जो अतिरंजित लगती हैं। जैसे- जोशी जी ने निर्मल वर्मा पर विश्वनाथ त्रिपाठी के विचार कुछ इस तरह से व्यक्त किए हैं- 'अभी कुछ दिन पहले विश्वनाथ त्रिपाठी से बातचीत हो रही थी तो वे बोले कि निर्मल वर्मा की एक कहानी पढ़ने के बाद उसकी और कहानियां पढ़ने की जरूरत ही नहीं समझी उन्होंने। बहुत खराब लिखता है निर्मल।' जबकि त्रिपाठी जी का कहना है कि उन्होंने सिर्फ 'सूखा' शीर्षक कहानी के बारे में यह बात कही थी, जिसे जोशी जी ने निर्मल वर्मा के पूरे लेखन पर लागू कर दिया। 'एक दिन का मेहमान' और 'लंदन की एक रात' जैसी कहानियों की त्रिपाठी जी ने प्रशंसा की है और निर्मल वर्मा के लेखन को वे महत्वपूर्ण मानते हैं।

नई कहानी पर एक लेख में जोशी जी ने निर्मल वर्मा और अज्ञेय के बारे में दिलचस्प टिप्पणी की है - 'जब निर्मल ने हिंदी में लिखने का फैसला किया तो उन्होंने अज्ञेय की भाषा का विशेष रूप से अध्ययन किया लेकिन अज्ञेय के दरबार में वह कभी भूलकर भी नहीं गए। उन्होंने अज्ञेय को मित्रमंडली में हमेशा एक हास्यास्पद 'राड' ठहराया और अज्ञेय ने भी शिष्य-मंडली में यदाकदा दबी जबान से यह कहा कि 'निर्मल का काफी लेखन फेक मालूम होता है'। लेकिन जोशी जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि साहित्यिक मिजाज के नजरिए से निर्मल वर्मा ही अज्ञेय के सर्वश्रेष्ठ उत्तराधिकारी थे और हैं। वैसे यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि खुद जोशी जी यह बात स्वीकार करते हैं कि मुझे आधुनिक साहित्य की सारी समझ अज्ञेय से ही मिली। भाषा का आरंभिक ज्ञान अमृत लाल नागर ने कराया तो उच्चतर ज्ञान अज्ञेय ने दिया। लेकिन यह भी कम दिलचस्प नहीं है कि जोशी जी शमशेर बहादुर सिंह को खारिज करने के लिए अज्ञेय का सहारा लेते हुए लिखते हैं- 'शमशेर घोषित कम्युनिस्ट हैं, परंतु अज्ञेय से ज्यादा रूपवादी हैं, यानी आपके पल्ले भी न पड़े कि उन्होंने क्या कहा है अपनी कविता में।'

समीक्ष्य पुस्तक में एक लेख है 'हिंदी साहित्य में वीरबालकवाद' शीर्षक से। इस लेख में मनोहर श्याम जोशी ने रामशरण जोशी के लिए एक फिकरा गढ़ा- 'वीरबालकवाद'। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'वीरबालकवादी का जीवन बगैर क्रांति के क्रांतिकारिता को, बगैर संघर्ष के संघर्ष को और बगैर जोखिम के जोखिम को समर्पित रहता है।' यह लेख फरवरी 2004 के 'कथादेश' में छपा था। यह वही समय है जब रामशरण जोशी अर्जुन सिंह के दोस्त के रूप में मशहूर होकर अर्जुन सिंह की जीवनी के लिए फील्ड-वर्क कर रहे थे। यह वही समय है जब वे सरकार की अनुकंपा से मिलने वाले कई बड़े पदों का सफर भी कर रहे थे।

इस किताब में एक लेख डॉ नगेंद्र पर है। जोशी जी की पत्नी भगवती जोशी डॉ नगेंद्र की शिष्या थीं। इसी वजह से जोशी जी का परिचय डॉ. नगेंद्र से हुआ। इस लेख में उन्होंने लिखा है कि 'डॉ. नगेंद्र की रुचि के विषय में जो कुछ मैंने सुना है, उसके आधार पर यह अनुमान कर सकता हूं कि उन्होंने मेरा लिखा हुआ कभी नहीं पढ़ा होगा। अगर पढ़ा होता तो निश्चय ही उनकी फटकार सुनने को मिलती।' समीक्ष्य पुस्तक की एक कमी यह है कि इसमें संकलित लेखों और साक्षात्कारों

का प्रकाशन वर्ष नहीं दिया गया है। इस वजह से लेखों और साक्षात्कारों के वास्तविक संदर्भ को समझने में कई बार पाठकों को दिक्कत होती है।

किताब में शैलेश मटियानी पर भी एक लेख है। इस लेख में भी बहुत दोहराया जाने वाला एक किस्सा सुनाते हुए जोशी जी ने लिखा है कि शैलेश जब रोजी-रोटी का सवाल हल करने सुमित्रानंदन पंत के पास पहुंचा, तब उन्होंने उससे कह दिया कि भई हमारे घर में नौकर तो पहले से ही है। इस लेख में जोशी जी की यह स्थापना है कि शैलेश मटियानी अगर शहरों की चतुराई सीख जाते, पिछड़े वर्ग में होने का राजनीतिक फायदा उठाना जान जाते, कम्युनिस्ट पार्टी की वाहवाही करने लगते या कम्युनिस्टों के विरोधियों की जमात में शामिल हो जाते तो वे हिंदी के बड़े लेखक होते। जोशी जी की मान्यता है कि ठेठ उत्तरांचल ठाठ में लिखा हुआ शैलेश का उपन्यास 'मुख सरोवर के हंस' हिंदी के आंचलिक साहित्य का एक क्लासिक है।

यह सभी जानते हैं कि मनोहर श्याम जोशी के पास पत्रकारिता का लंबा अनुभव था। साप्ताहिक हिंदुस्तान और दिनमान जैसी पत्रिकाओं से वे जुड़े रहे। लेकिन पत्रकारिता को लेकर कोई आदर्शवाद का भ्रम नहीं था उन्हें। वे यह खुलकर स्वीकार करते हैं कि पत्रकारिता का एक पक्ष दलालीवाला और सत्ता के गलियारे में घूमने वाला होता है। संपादक कौन होगा, यह तो पत्र-पत्रिकाओं के मालिक ही तय करते हैं। हिंदी में मनोहर श्याम जोशी की पहचान एक उपन्यासकार के रूप में है। जोशीजी के शब्दों में 'मैं उपन्यास लिखने के लिए तड़पता हूं, मैं अपनी बात उसी के माध्यम से कह सकता हूं। मेरे अब तक जितने भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं उन्हें मैं कहानी के रूप में ही लिखने बैठा था।'

जोशी जी को हिंदी का पहला उत्तर आधुनिक लेखक माना जाता है और इनके उपन्यासों में जादुई यथार्थवाद की खोज की जाती है। उत्तर आधुनिकता के बारे में जोशी जी का स्पष्ट मत है कि 'जिस चीज को उत्तर आधुनिकता कहा जाता है, उससे मेरा परिचय किसी शास्त्रीय पोथी में न होकर अर्जेंटीना के विख्यात लेखक स्वर्गीय होर्जे लुई बोर्खेज के कहानी संग्रह 'फिच्चिओने' के माध्यम से हुआ।' हिंदी में उत्तरआधुनिकता की स्थिति पर जोशी जी लिखते हैं - 'उत्तर आधुनिकता पर केवल सुधीश पचौरी ने दो-चार प्रवचन दिए हैं। तो यह हिंदी में 'आउट ऑफ कोर्स' है। हमने इन अवधारणाओं को स्वीकार ही नहीं किया।' एक सवाल का जवाब देते हुए जोशी जी कहते हैं कि 'मेरी मां कुशल किस्सागो और नक्काल थी। मुझे अपना बुनियादी साहित्य संस्कार और तेवर उसी से विरासत में मिला है।'

जोशी जी लोक साहित्य की परंपरा को अपने लेखन का महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। जोशी जी को आंचलिक कथाकार कहना अकारण और आकस्मिक नहीं है। लोक साहित्य की दुनिया से अपरिचित रहने वाले व्यक्ति ही जोशी जी के उपन्यासों में जादुई यथार्थवाद खोजते हैं। इस स्थान पर मैं मार्खेज का यह कथन पेश करना चाहता हूं- 'यह बात मुझे बड़ी अजीब सी लगती है कि मेरे लेखन की सबसे अधिक प्रशंसा कल्पना के लिए होती है, जबकि सच तो यह है कि मेरे पूरे लेखन में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो वास्तविकता पर आधारित न हो। समस्या यह है कि कैरेबियाई सच्चाई अतिरेकी कल्पनाओं से मिलती-जुलती है।'

जोशी जी के उपन्यासों पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया है। 'हमजाद' के बारे में विजय मोहन सिंह ने लिखा कि 'मनोहर श्याम जोशी उन अमेरिकी लेखकों की तरह हैं जो 'पोर्न' लिखकर नाम और पैसा कमाते हैं।' 'हमजाद' के बारे में विद्यानिवास मिश्र ने लिखा कि 'यह हिंदीभाषी समाज की मानसिकता से मेल नहीं खाता। यदि यह मराठी, बांग्ला या मलयालम में लिखा गया होता तो ठीक था।' जोशी जी अपने उपन्यासों को समझने का एक और टूल्स कुछ इस प्रकार प्रदान करते हैं- 'जो समाज जिस चीज से जितना ज्यादा डरता है, उस चीज के बारे में उतने ही अधिक चुटकुले गढ़ता है। स्तालिन की तानाशाही के दौरान सोवियत संघ में सबसे ज्यादा चुटकुले स्तालिन के बारे में ही प्रचलित थे। मैं अपनी रचनाओं में हास-परिहास और विनोद का प्रयोग भय-मोचन और उदासी निवारण के लिए करता हूं।' हर भारतीय अपने अनुभव से यह जानता है कि हास-परिहास के लिए जो बातें होती हैं उनमें सेक्स से संबंधित बातों की प्रधानता होती है। फिर इसमें क्या आश्चर्य कि जोशी जी के उपन्यासों में भी सेक्स से संबंधित प्रसंग बहुतायत में आते हैं।

इस किताब में जोशी जी ने लेख और इंटरव्यू के मिश्रित रूप में 'सांप और रस्सी' शीर्षक से लिखा है। इसमें जोशी जी उन भारतीय उपन्यासकारों की बात करते हैं, जो अंग्रेजी में लिखते हैं। 'द सर्पेंड एंड द रोप' के उपन्यासकार राजाराव से जोशी जी भारतीयता से संबंधित एक सवाल पूछते हैं। इसके जवाब में राजाराव कहते हैं, 'जितना मैं परदेश में रहा उतना ही स्वदेशी होता गया। भारतीयता भारत के बाहर रहने से मुरझा नहीं जाती। भारत से बाहर जाकर ही भारत को समझा जा सकता है।

भारत में आज जबरदस्त धार्मिक पुनर्जागरण हो रहा है। विज्ञान ने रोटी-रोजी वाले तमाम सवाल हल कर डाले हैं।' हिंदी में 'साक्षात्कार' विधा सर्वाधिक उपेक्षित है। साक्षात्कार लेने वाले को कोई भी गंभीरता से नहीं लेता। यह किताब संभव ही नहीं हो पाती यदि अभय कुमार सिंह, प्रभात रंजन, अजित राय, मीना साहेब, प्रेम कुमार आदि मनोहर श्याम जोशी का इंटरव्यू न करते।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समीक्ष्य पुस्तक मनोहर श्याम जोशी की रचनाओं को समझने के लिए उन पर किसी आलोचक द्वारा लिखी गई किताब से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। ऐसी किताब हिंदी आलोचना में हस्तक्षेप करके आलोचकों को सही रास्ता भी दिखाती है। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 38

समीक्षा

गांधी और सुभाष के संबंधों की सूक्ष्म पड़ताल

■ **अरुण कुमार त्रिपाठी**
वरिष्ठ पत्रकार

संपर्क :
जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर-9,
वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

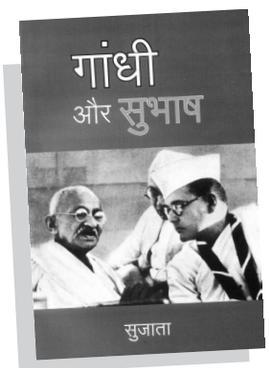

पुस्तक : गांधी और सुभाष
लेखिका : सुजाता
प्रकाशक : सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी-221001
प्रकाशन वर्ष : 2015
मूल्य : ₹ 130 (अजिल्द), ₹170 (सजिल्द)

गांधीवादी संस्था सर्वसेवा संघ ने गांधी और सुभाष पर एक रोचक, ज्ञानवर्धक, आत्मीय और जरूरी पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक गांधी और भगत सिंह जैसी किताब की श्रृंखला की एक कड़ी है। 'गांधी और सुभाष' नामक पुस्तक की लेखिका सुजाता ने यह पुस्तक ऐसे समय में तैयार की है जब यह तथ्य सामने लाया जा रहा है कि पंडित जवाहर लाल नेहरू ही नहीं लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री रहते हुए नेताजी के परिवार की जासूसी कराते रहे और इस तथ्य से भयभीत रहे कि कहीं नेताजी प्रकट न हो जाएं। फिलहाल चूंकि किताब गांधी और सुभाष पर केंद्रित है इसलिए इसके प्रसंग 1948 तक के ही हैं और लेखिका ने उस दौरान इन दोनों महान स्वाधीनता सेनानियों के रिश्तों को प्रमाणित करने के लिए सरकारी दस्तावेजों और इतिहासकारों की टिप्पणियों को दरकिनार करते हुए दोनों के वांग्मय का सहारा लिया है।

यही वजह है कि लेखिका ने यह पुस्तक इस भावना से मुक्त हो कर लिखी है कि महात्मा गांधी और उनके सबसे प्रिय अनुयायी जवाहरलाल नेहरू ने सुभाष बाबू के साथ बहुत अन्याय किया और उन्हें देश छोड़ कर भागने पर मजबूर कर दिया। उन्होंने इन दोनों को एक देशभक्त की भावना से देखा है और संभवत: आज की राजनीतिक जरूरत से ज्यादा उस समय की स्थितियों के मद्देनजर स्वाधीनता के इन दो नायकों के विचारों और रणनीतियों की सीमाओं और संभावनाओं को भारत की आजादी के संदर्भ में देखने की कोशिश की है। ऐसा करते हुए उन्हें उन दोनों के बीच पर्याप्त राजनीतिक टकराव दिखा है और उतना ही निजी आदर और प्रेम भी। शायद यही संतुलित इतिहास लेखन है और इसीलिए इतिहास लिखा भी जाता है। इतिहास से अगर हम जहर ही निकालते रहें तो उसका उद्देश्य न तो वर्तमान के लिए सफल होता है न ही भविष्य के लिए। वैसा करने वाले किसी न किसी निहित स्वार्थ की राजनीति से प्रेरित होते हैं और ऐसा इस लेखिका में नहीं है।

चूंकि यह पुस्तक सर्वसेवा संघ ने प्रकाशित की है इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसमें महात्मा गांधी को सुभाष के संदर्भ में ज्यादा सकारात्मक रोशनी में पेश किया गया है लेकिन पुस्तक कहीं भी सुभाष बाबू को नकारात्मक रोशनी में नहीं पेश करती। शायद कोई भी देशभक्त ऐसा कर नहीं सकता। सुभाष बाबू की रणनीतियों से असहमत होना और उसके खतरे बताना एक बात है लेकिन न तो कोई उनकी महानता को खारिज कर सकता है और न ही देशप्रेम को। लेकिन किसी के देशप्रेम को दूसरे महापुरुष के देशप्रेम से कुश्ती लड़ाने की तमाशबीन शैली और उसमें से एक को खलनायक और दूसरे को नायक पेश करने का प्रयास इस पुस्तक में कतई नहीं है।

जाहिर सी बात है किसी भी तरह की पटकथा में इन दोनों में से एक को खलनायक और दूसरे को नायक बनाने की योजना देशभक्त योजना नहीं है। अगर गांधी खलनायक थे तो अंग्रेज कौन थे। इस तरह की योजना हमें आखिरकार अपने लोगों को खलनायक और अंग्रेजों को नायक बनाने की ओर ले जाती है जिससे बचने का प्रयास और संकेत इस किताब में है।

पुस्तक यह दर्शाती है कि गांधी और सुभाष के बीच का रिश्ता कुछ बाजश्रवा और नचिकेता जैसा था। वही द्वंद्व जो जीवन और राजनीति के बड़े सवालों पर दो पीढ़ियों के बीच व दो रणनीतियों और दो सिद्धांतों के बीच रहता है। उस द्वंद्व के कारण पुत्र यमराज के पास तक चला जाता है और पिता पछताता भी है। फिर पुत्र को पछतावा होता

है और वह पिता के पास लौटना चाहता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। पीढ़ियों और महापुरुषों के इस द्वंद्व के बावजूद उनके रिश्ते दुश्मन नहीं सहयोगी और प्रशंसक के तौर पर हैं। इस बात को महात्मा गांधी ने अपनी हत्या से एक हफ्ते पहले 23 जनवरी 1948 को प्रार्थना बेला में कहा- सुभाष बाबू हिंसा के पुजारी रहे हैं और मैं अहिंसा का! लेकिन उससे क्या? तुलसीदास जी ने रामायण में लिखा है: संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार। हंस जैसे पानी छोड़ दूध पी जाता है, वैसे ही मानव में गुण-दोष होते ही हैं, पर हमें तो गुणों का पुजारी होना चाहिए।

सुभाष बाबू कितने देशभक्त थे, इसका वर्णन करना असामयिक होगा। उन्होंने देश के लिए जुआ खेलकर दिखा दिया। कितनी बड़ी सेना खड़ी की और वह भी किसी भी तरह से जात-पांत के भेदभाव के बगैर। उनकी सेना में प्रांतीय भेदभाव भी नहीं था और न रंगभेद ही था। सेनापति होने के बावजूद यह बात न थी कि स्वयं सुख-सुविधा भोगें और दूसरों को कम मिले।

सुभाष बाबू सर्व-धर्म समभाव रखते थे। इसी कारण 'उन्होंने देश के भाई-बहनों के हृदय जीत लिए थे। उनके इन गुणों को याद रखकर हम उन्हें अपने जीवन में उतारें, यही उनकी स्थायी स्मृति होगी।' आजाद हिंद फौज में नेहरू और गांधी ब्रिगेड की मौजूदगी यह प्रमाणित करती है कि सुभाष के मन में गांधी और नेहरू के प्रति कितना आदर था।

आजाद हिंद फौज की अन्य दो ब्रिगेडों के नाम थे— सुभाष ब्रिगेड और आजाद ब्रिगेड। गांधी और सुभाष में एक-दूसरे से दूर जाने के जितने कारण और प्रसंग हैं, उससे कहीं ज्यादा पास आने और एक-दूसरे से ग्रहण करने के प्रसंग हैं। एक-दूसरे के परिवार और स्वास्थ्य की चिंता के तो तमाम प्रसंग हैं ही। देश की नब्ज पर गांधी का हाथ हमेशा रहा है और इसी सिलसिले में वे भी विमान हादसे में सुभाष बाबू के मारे जाने की खबरों के उहापोह में डूबते-उतराते रहते थे। 2 जनवरी, 1946 को मिदनापुर में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के सम्मेलन में गांधी ने कहा- मैं नहीं मानता कि सुभाष बाबू की मृत्यु हो गई है। मुझे लगता है कि वे कहीं छुपे हुए हैं और उपयुक्त घड़ी में प्रकट होंगे। मैं उनके साहस और देशप्रेम की प्रशंसा करता हूं। लेकिन साधनों के संबंध में मेरा उनसे मतभेद है। मुझे पूरा विश्वास है कि सच्ची स्वतंत्रता, आम आदमी की आजादी, कभी सशस्त्र विद्रोह से प्राप्त नहीं हो सकती।'

सुभाष बाबू की मृत्यु के बारे में गांधी ने हरिजन में एक लेख लिखा- 'क्या नेताजी जिंदा हैं?' इस लेख में उन्होंने लिखा- 'एक समय था जब अखबारों में खबर आई थी कि नेताजी का स्वर्गवास हो गया। मैंने उसे मान लिया था। बाद में कहा गया कि वह खबर गलत थी। तब से मुझे लगा कि जब तक उनका स्वप्न सिद्ध नहीं होता है वे मर नहीं सकते। इसके अलावा मैंने मान रखा था कि अपने दुश्मनों को और अपने कार्य के लिए जगत को भी धोखा देने की उनमें भारी शक्ति थी। उन्हें जिंदा मानने के सिर्फ यही कारण मेरे पास थे। ...इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें स्वतंत्र सत्य है। ऐसी हालत में जबकि मेरे पास नेताजी की हस्ती के बारे में प्रेरणा के सिवाय और कोई प्रमाण नहीं है, मेरी मान्यता पर किसी को अपनी मान्यता निर्भर नहीं करनी चाहिए। ...मेरी मान्यता के विरुद्ध सख्त प्रमाण हैं। ब्रिटिश सरकार की तरफ से नेताजी की मौत का समर्थन किया ही जाता है। कप्तान हबीबुर्रहमान नेताजी की मौत के समय उनके साथ थे। वह उनकी जलकर काली हुई घड़ी अपने साथ लाए हैं। नेताजी के साथी श्री अय्यर भी मुझसे मिल चुके हैं। वह कहते थे कि अगर मेरी प्रेरणा का कोई दूसरा आधार नहीं है तो मुझे उनके जिंदा होने की अपनी मान्यता को छोड़ देना चाहिए।'

महात्मा गांधी अपने अहिंसा के सिद्धांत पर दृढ़ थे और नेताजी अहिंसा को एक रणनीति के तौर पर इस्तेमाल करना चाहते थे। उनके लिए देशभक्ति सर्वोपरि थी और वे किसी भी कीमत पर देश को आजाद कराना चाहते थे। लेकिन आजाद हिंद फौज के लोगों के प्रति गांधी के मन में किसी तरह का गुस्सा और नफरत नहीं थी। वे उन्हें भी समझा कर अपने अहिंसा के दायरे में लाने को तैयार थे। आजाद हिंद फौज के सैनिकों ने पूछा- 'जिसने पूरी जिंदगी लड़ाई में बिताई हो वह अहिंसा को सफलतापूर्वक कैसे अपना सकता है?'

इस पर महात्मा गांधी का कहना था- 'बादशाह खान पठान हैं। उनके इलाके में आपसी झगड़े निपटाने के लिए तलवार और बंदूक जरूरी मानी जाती है, लेकिन उन्होंने अहिंसा का सिद्धांत पूरी तरह से आत्मसात कर लिया है। ...टालस्टाय ने भी सेना में काम किया था लेकिन फिर भी वे यूरोप में अहिंसा के महापंडित बन गए।' सैनिकों का अंतिम प्रश्न था- 'अगर सुभाष बाबू विजय प्राप्त करके आपके पास लौटे होते तो आप क्या करते?' महात्मा गांधी का जवाब था- 'मैने उनसे कहा होता कि वे हथियार छुड़वा दें और उन्हें मेरे सामने जमा करवा दें।'

गांधी और नेताजी के भीतर पारस्परिक आदर और स्नेह के बारे में आजाद हिंद फौज के कैप्टन निम्बालकर भी प्रमाणित करते हैं। महात्मा गांधी ने उनसे कहा, 'मेरा सुभाष के साथ तीव्र मतभेद था, फिर भी उनकी देशभक्ति, उनके साहस और उनकी सूझ-बूझ की मैं सदा सराहना करता आया हूं।' इस पर निम्बालकर ने बताया कि सुभाष बाबू के मन में महात्मा गांधी के प्रति ऐसा सम्मान था कि 26 जनवरी को जापान में आजाद हिंद फौज की सलामी लेते समय नेताजी ने

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 40

तिरंगे को फहराया तो सामने महात्मा गांधी की बड़ी सी तस्वीर रखी और कहा- 'आप राष्ट्रपिता हैं पूरे देश के पिता...' नेताजी ने एक पुस्तक भी लिखी- 'फादर ऑफ द नेशन्स'।

सुभाष बोस जीवित हैं या नहीं इस संबंध में महात्मा गांधी को झूलते देखकर लुई फिशर ने उनसे पूछा कि आप बोस की प्रशंसा क्यों करते हैं, क्या आप को विश्वास है कि वे जीवित हैं? इस पर गांधी ने कहा, 'वे प्रशंसा इसलिए करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि सुभाष बाबू देशभक्तों के सिरमौर हैं। लेकिन, अब मुझे यह विश्वास नहीं है कि वे जीवित हैं। एक बार मेरे दिल ने मुझे अन्यथा विश्वास करने को कहा था, क्योंकि वे राबिन हुड की किंवदंती जैसे मशहूर हो गए थे।'

इस पर लुई फिशर ने गांधी पर फिर सवाल दागा- 'मेरा मुद्दा यह है कि बोस जर्मनी और जापान दोनों गए। दोनों ही फासिस्ट देश हैं। अगर वे फासिस्टों के पक्षधर हैं तो आप की उनके साथ कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। अगर वे देशभक्त थे और यह विश्वास करते थे कि भारत की रक्षा विशेषकर 1944 में जर्मनी और जापान द्वारा की जाएगी तो वे मूर्ख थे और राजनीतिज्ञों के लिए मूर्ख बनने की कोई गुंजाइश नहीं होती।' महात्मा गांधी ने उन्हें शांत करते हुए कहा- 'राजनीतिज्ञों के बारे में आपकी अच्छी राय है। उनमें से अधिकतर मूर्ख हैं। ...मुझे तो बहुत विषमताओं के विरुद्ध काम करना पड़ता है। और हिंसा...? लोगों में हिंसा की एक सक्रिय प्रवृत्ति मौजूद है, जिसका कि विरोध करना होगा और वह मैं अपने तरीके से कर रहा हूं।'

हालांकि महात्मा गांधी जर्मनी के चांसलर हिटलर और इटली के शासक मुसोलिनी के अमानवीय कामों की कड़ी से कड़ी निंदा कर रहे थे लेकिन वे मार्क्सवादियों की तरह फासिस्ट बनाम लोकतंत्र की बहस में शामिल नहीं थे और न ही सुभाष बाबू को उस तराजू पर तौलने को तैयार थे। उनके लिए हिंसा बड़ा मुद्दा था चाहे वह लोकतंत्र होने का दावा करने वाले ब्रिटेन का हो या तानाशाही को मानने वाले जर्मनी का।

सुभाष बोस जीवित हैं या नहीं इस संबंध में महात्मा गांधी को झूलते देखकर लुई फिशर ने उनसे पूछा कि आप बोस की प्रशंसा क्यों करते हैं, क्या आप को विश्वास है कि वे जीवित हैं? इस पर गांधी ने कहा, 'वे प्रशंसा इसलिए करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि सुभाष बाबू देशभक्तों के सिरमौर हैं। लेकिन, अब मुझे यह विश्वास नहीं है कि वे जीवित हैं। एक बार मेरे दिल ने मुझे अन्यथा विश्वास करने को कहा था, क्योंकि वे राबिन हुड की किंवदंती जैसे मशहूर हो गए थे।'

सुभाष बाबू की मृत्यु का समाचार एक बार मार्च 1942 में भी उड़ गया था। इस खबर के आते ही गांधी ने सुभाष बाबू की मां को तार भेजा- 'संपूर्ण राष्ट्र अपने और आपके वीर पुत्र की मृत्यु पर शोकमग्न है।...' लेकिन जब उन्हें दूसरे ही दिन इस खबर के गलत होने की सूचना मिली तो उन्होंने उनकी मां प्रभावती बोस को तार किया- भगवान को लाख-लाख धन्यवाद कि जिस समाचार को बिल्कुल प्रामाणिक कहा जाता रहा था, वह गलत साबित हुआ। आप को और राष्ट्र को हमारी बधाई।'

गांधी की इस प्रतिक्रिया पर लुई फिशर को धक्का लगा और उन्होंने नाराजगी जताते हुए कहा- '...आपने एक ऐसे आदमी की मृत्यु पर शोक प्रकट किया, जो फासिस्ट जर्मनी जाकर उससे मिल गया।'

यहां गांधी का जवाब अहम है- 'मैंने वैसा इसलिए किया कि बोस को मैं देशभक्तों का सिरमौर मानता हूं। वे गुमराह हो सकते हैं। मेरे खयाल से वे गुमराह हो भी गए हैं। मैंने अक्सर बोस का विरोध भी किया है। मेरे विचार उनके विचारों से अक्सर भिन्न रहे...।' उसके बाद गांधी ने फिशर से प्रश्न किया- 'मान लीजिए वे सहायता मांगने अमेरिका या रूस जाते, तो यह क्या कुछ बेहतर होता?' इस पर लुई फिशर ने कहा- 'जी हां अवश्य होता। आप मदद के लिए किसके पास जाते हैं, इससे फर्क तो पड़ता ही है।'

गांधी ने जवाब में कहा- 'मैं भारत को आजाद करने के लिए किसी की मदद नहीं चाहता। मैं चाहता हूं भारत अपना बचाव स्वयं करे।...ब्रिटिश शासन में भी फासीवाद के प्रबल तत्व मौजूद हैं और इन तत्वों को हम भारत में हर दिन देखते और महसूस करते हैं...हमें जर्मनी और इटली से प्रजातंत्र के लिए लड़ने को कहा जाता है ...लेकिन खुद हमारे पास प्रजातंत्र नहीं है...।'

महात्मा गांधी ने न सिर्फ नेताजी के

नारे 'जयहिंद' को स्वीकार किया बल्कि उसे 'वंदे मातरम्' के समकक्ष रखा। उन्होंने नेताजी की भतीजी बेला बोस के पति हरिदास मित्र की मृत्युदंड को क्षमा करने के लिए अपील की। उनकी अपील के बाद हरिदास की मृत्युदंड की सजा बदली गई।

पुस्तक में 1938 में गुजरात के हरिपुरा में हुए कांग्रेस के सम्मेलन में सुभाष बाबू को कांग्रेस अध्यक्ष चुने जाने की तैयारी से लेकर 1939 में मध्यप्रदेश के त्रिपुरी सम्मेलन में दोबारा चुने जाने के बीच हुए मेल-मिलाप और सभी तरह की खींचतान का जिक्र है। 1920 में महात्मा गांधी से सुभाष की मुलाकात के बाद यह दोनों के राजनीतिक रूप से सर्वाधिक निकट आने का और फिर दूर चले जाने का दौर रहा।

यह तथ्य है कि 51वीं कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए सरदार पटेल, जमनालाल बजाज, राजेंद्र बाबू, मौलाना आजाद- सभी इच्छुक थे। लेकिन गांधी ने सभी को किनारे करके सुभाष बाबू को अध्यक्ष बनवाया।

शायद 1938 और 1939 महात्मा गांधी और सुभाष के संबंधों के निर्णायक वर्ष थे। 1938 में महात्मा गांधी ने उन्हें यह मौका दिया था कि वे अहिंसा के रास्ते पर चलते हुए कांग्रेस की कमान संभालें। लेकिन 1939 तक आते-आते सुभाष बाबू अहिंसा से निराशा व्यक्त करते हुए हिंसा की भाषा बोलने लगे। पहला चुनाव सुभाष बाबू गांधी जी के कहने पर दक्षिणपंथी गुटों के सहयोग से जीते थे लेकिन दूसरा चुनाव वे अपने बूते पर जीते। इसी चुनाव पर महात्मा गांधी ने उनके प्रतिद्वंद्वी डॉ. पट्टाभि सीतारमैया की हार को अपनी हार बताया। लेकिन सुभाष बाबू ने लिखा- 'हाल के अध्यक्ष पद के चुनाव के बारे में महात्मा गांधी ने जो वक्तव्य दिया है, मैंने अत्यंत ध्यानपूर्वक पढ़ा है। मुझे यह जानकर दुख होता है कि महात्मा गांधी ने उसे अपनी निजी पराजय माना है। इस मुद्दे पर मैं विनम्रतापूर्वक अपनी असहमति प्रकट करना चाहूंगा। मतदाताओं अर्थात प्रतिनिधियों से महात्मा गांधी के पक्ष या विपक्ष में मत देने को नहीं कहा गया था। परिणामत: चुनाव का नतीजा मेरी राय में और अधिकांश लोगों की राय में, उनको (गांधी जी को) प्रभावित नहीं करता।'

गांधी और सुभाष के बीच का रिश्ता कुछ बाजश्रवा और नचिकेता जैसा था। वही रिश्ता जो जीवन और राजनीति के बड़े सवालों पर दो पीढ़ियों के बीच व दो रणनीतियों और दो सिद्धांतों के बीच रहता है। उस रिश्ते के कारण पुत्र यमराज के पास तक चला जाता है और पिता पछताता भी है। फिर पुत्र को पछतावा होता है और वह पिता के पास लौटना चाहता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। पीढ़ियों और महापुरुषों के इस रिश्ते के बावजूद उनके रिश्ते दुश्मन नहीं सहयोगी और प्रशंसक के तौर पर रहे।

सुभाष बाबू ने कहा- '...कुछ अवसरों पर सार्वजनिक प्रश्नों पर मुझे दुख के साथ महात्मा गांधी से असहमत होना पड़ा है, लेकिन उनके व्यक्तित्व के प्रति मेरा आदर भाव किसी से कम नहीं है। अगर मैंने उन्हें ठीक-ठीक समझा है, तो स्वयं भी वे यही चाहेंगे कि लोग स्वतंत्र रूप से विचार कर सकें। हालांकि हो सकता है कि वे उनके(महात्मा गांधी के) साथ सदैव सहमत न हों। ...मुझे नहीं मालूम कि महात्मा गांधी के मेरे बारे में क्या विचार हैं लेकिन मेरी कोशिश हमेशा यही रहेगी कि उनका विश्वास प्राप्त करूं।...''

पुस्तक में त्रिपुरा सम्मेलन के बाद महात्मा गांधी और सुभाष बाबू के बीच हुए लंबे पत्र-व्यवहार का उल्लेख है। इसमें सुभाष बाबू के बड़े भाई शरत बोस और मौलाना आजाद के विवाद का भी उल्लेख है। एक जगह तो सुभाष बाबू महात्मा गांधी के आगे देश हित में अपना आत्म-विलोपन करने को तैयार हो जाते हैं लेकिन गांधी उन्हें किसी प्रकार के आत्मदमन से रोकते हैं और कहते हैं कि वे इस पाप का भागीदार नहीं बनना चाहते। वे कहते हैं कि सुभाष बाबू खुले हाथ से कांग्रेस की कार्यसमिति का गठन करें। लेकिन सुभाष बाबू वैसा कर नहीं पाते और चार महीने बाद अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे देते हैं।

कुल मिलाकर यह पुस्तक 1920 से लेकर 1945 तक यानी 25 साल तक भारत के दो महापुरुषों के मतभेदों और मेल-मिलाप की कोशिशों का वर्णन है। यह वर्णन बेहद ईमानदारी से किया गया है जो स्पष्ट तौर पर वैचारिक है। इसमें स्वाधीनता और सामाजिक न्याय का द्वंद्व है। इसमें अहिंसा और हिंसा का द्वंद्व है, इसमें शत्रु से घृणा करने और न करने का द्वंद्व है। इसमें हिटलर और मुसोलिनी की तारीफ और निंदा का द्वंद्व है। पर इससे गांधी और सुभाष सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत होते हैं। इस तरह की किताबें पढ़ी जानी चाहिए और ऐसे विमर्शों को और बढ़ाया जाना चाहिए। ■

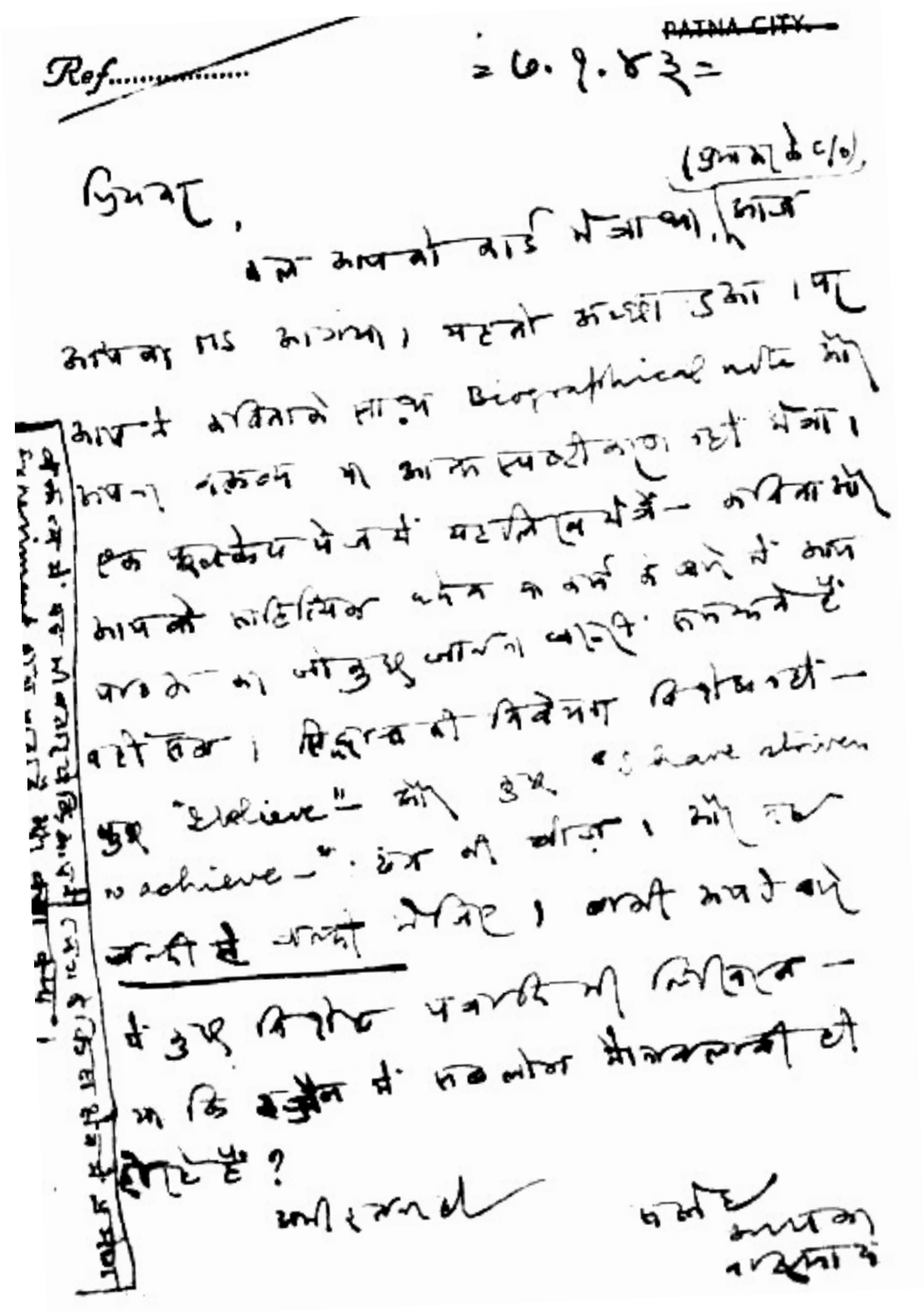

अज्ञेय द्वारा मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 43

समीक्षा

भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर गंभीर विमर्श

■ **प्रेमपाल शर्मा**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क : 96, कला विहार, मयूर विहार एक्सटेंशन, दिल्ली-110091

पुस्तक : मूढ़ बनाने का कारखाना
लेखक : जॉन टेलर गेट्टो
प्रकाशक : 'बनियन ट्री' 1-बी, धेनु मार्केट, दूसरा माला, इंदौर-452003

पुस्तक : स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?
लेखक : कमला वी. मुकुन्दा
प्रकाशक : एकलव्य प्रकाशन ई-10, शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल-462 016

स्कूली शिक्षा के संदर्भ में हाल ही में दो महत्वपूर्ण किताबें आई हैं। 'जॉन टेलर गेट्टो' की 'मूढ़ बनाने का कारखाना' ('डम्बिंग अस डाउन' का हिंदी अनुवाद) और कमला वी. मुकुन्दा की 'स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?'। गेट्टो न्यूयार्क सिटी पब्लिक में लगभग तीस वर्ष पढ़ाने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि स्कूल में पढ़ने-पढ़ाने का शिक्षा से बहुत दूर का रिश्ता है। सिर्फ इतना भर कि कैसे आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की चाकरी की जाए। इसीलिए उनकी पुस्तक 'डम्बिंग अस डाउन' पिछले दशक की बहुत लोकप्रिय किताब बन गई। शिक्षा की भयानक वास्तविकताओं पर उंगली रखने वाली। भारत समेत दुनिया भर के अभिभावकों के लिए प्रथ-प्रदर्शक। यह सोचने को मजबूर करती कि हम बच्चों को कैसे शिक्षित करें।

पुस्तक इंदौर की संस्था 'बनियन ट्री' ने छापी है। हिंदी अनुवाद ज्वाला प्रसाद मिश्र ने किया है। लेकिन इतनी अच्छी पुस्तक की उतनी ही अच्छी भूमिका लिखी है मनीष जैन ने 'भारतीय संदर्भ में प्रस्तावना' शीर्षक से। बार-बार उन बिंदुओं को रेखांकित करते हुए कि यह पुस्तक भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समझने के लिए जरूरी है। मनीष का कहना सही है कि 'डम्बिंग अस डाउन' को पढ़ना उन सबके लिए आवश्यक है जो 'नई तालीम' और 'स्वराज' के गांधीवादी दर्शन की गहराई में उतरने में रुचि रखते हैं और उनके लिए भी जो शिक्षा के अधिकार का कानून (आरटीई, जो कि हाल ही में बनाया गया है) की गहन दार्शनिक समस्याओं को समझने की इच्छा रखते हैं और साथ ही भारत में व्यापक शिक्षा के विस्तार में।

अपने अनुभवों की रोशनी में मनीष लिखते है कि 'वे स्वयं ऐसी किताब की इच्छा रखते थे जिसमें साथी शिक्षक स्वयं अनुभवों को बांटें, जो उन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बच्चों के विरुद्ध स्कूल में किए -'मुझे क्षमा करो पिता' के अंदाज में। पर ऐसा संभव नहीं हो पाया। 'डंबिंग अस डाउन' में उन्हें वैसी झलक मिलती है। गेट्टो 'एक-साइज-सबके-लिए-फिट' पर भी प्रहार करते है क्योंकि कारखाना शिक्षा प्रणाली (फैक्टरी स्कूलिंग) बच्चों और समुदायों को बहुत नुकसान पहुंचा रही है। यह समाज विरोधी, सीखने में बाधक और अलोकतांत्रिक क्रिया है। जिस स्कूल नाम की गाय से सारे उत्तरों व प्रश्न की उम्मीद की जा रही है वास्तव में वही सब बीमारियों का कारण है।

गेट्टो की आलोचना हमें आमंत्रित करती है कि हम उन अधिक बुनियादी सवालों से खुद को जोड़ें कि अच्छा जीवन कैसे बनता है और ईमानदार जीविकोपार्जन क्या है? स्वस्थ लोकतंत्र, अर्थव्यवस्था और समाज को कौन-सी चीज बनाती है? हम समस्त जीव-जगत के साथ समन्वयपूर्वक किस तरह रह सकते हैं? गांधी ने इन प्रश्नों को 'हिंद स्वराज' में सौ वर्ष से भी पहले उठाया था और उन्हें भारत की आध्यात्मिक धाराओं में बारंबार रेखांकित भी किया गया है। फिर भी चूहा-दौड़ शिक्षा पद्धति के पास इन सवालों के लिए समय नहीं है।

मनीष विस्तार से संस्थानीकरण की नकारात्मक पक्षों को कुछ उदाहरणों से समझाते हैं- इतिहास ने हमें दिखलाया है कि मानवता के विरुद्ध जघन्यतम अपराध वहां हुए हैं जहां लोग संस्थाओं द्वारा रचित अमूर्तताओं के प्रति आज्ञाकारी व बिखरे गुलाम बन गए हों। हमारे रोजमर्रा के जीवन में अमानवीकरण के अनेकों उदाहरण दिखाई देते हैं- 'सेना का जवान' जब यह कहता है कि वह तो केवल आदेश का पालन कर रहा था जब उसने निरपराध मणिपुरी पर गोली चलाई...भारतीय गृहिणी जो प्रतिदिन सब्जी वाले से प्लास्टिक की थैली लेती है और कहती है कि पड़ोस को स्वच्छ रखना और धरती माता की साज-संभाल करना उसका काम नहीं है...कक्षा का मॉनीटर जो अपने हम उम्रों को प्रतिदिन शिक्षक द्वारा अपमानित होते व पिटते देखता है क्योंकि उन्होंने होमवर्क पूरा

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 44

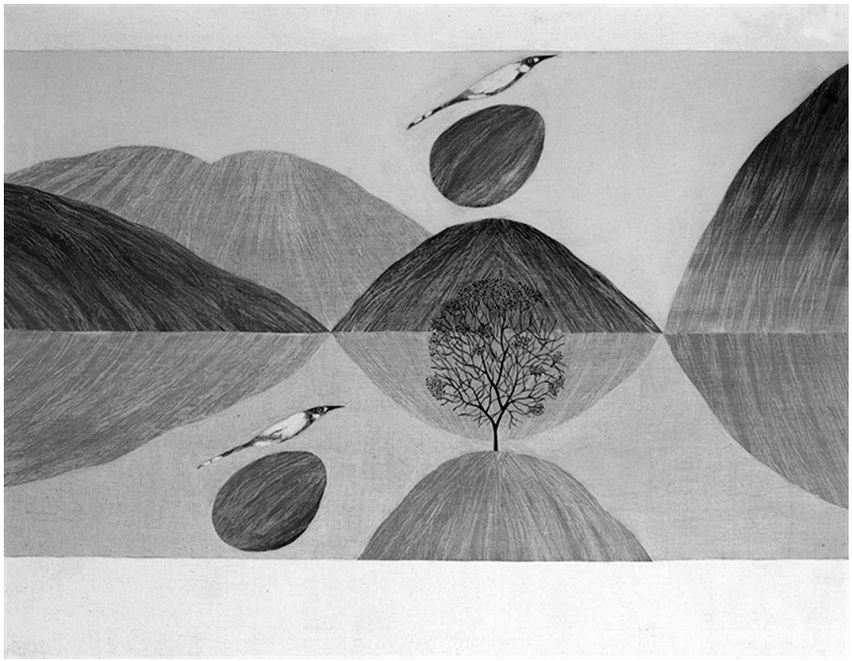

जे स्वामीनाथन की एक कलाकृति

नहीं किया था... वह लड़की जो कीमती ब्रांडेड वस्त्र इसलिए खरीदती है ताकि अधिक सुंदर दिखे और लोकप्रिय हो जाए। इस सब के सार में संस्थानीकरण है जो हमारे अंदर की पूरी आवाज को और हमारे निजी व सामूहिक 'सत्य के साथ प्रयोग' को चालाकी से दबा देता है।' इसलिए जब मनीष ने केरल के विद्यार्थियों से पूछा कि क्या वे स्कूल के बिना सीख सकते हैं तो एक मत होकर ऊंचे स्वर में कहा- हां। शायद हम सबके अंदर से ऐसी ही आवाज आएगी।

जॉन गेट्टो भी तो इसीलिए स्कूल को कारागृह या काल कोठरी कहते हैं। चमगादड़ों का अंतर्जाल। स्कूल की घंटियां जैसे हर बच्चे को एक जैसा होने का टीका लगाती है। याद कीजिए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अपनी बचपन की शिक्षा को याद करते हुए स्कूली शिक्षा के बारे में ऐसी ही बातें कही हैं।

बहुत मोटी किताब नहीं है। पांच अध्यायों में बंटे मात्र सौ पृष्ठों में गेट्टो ने अपने निजी अनुभवों के साथ अपनी बात रखी है। पहला अध्याय है- सात सबक वाला स्कूल अध्यापक। ये सात सबक हैं- भ्रम, कक्षा स्थिति, तटस्थता, उदासीनता, भावनात्मक निर्भरता, बौद्धिक निर्भीकता, आत्मसम्मान, छिपाने के खिलाफ। बहुत मौलिक बातें करते हैं गेट्टो। गेट्टो बच्चों को सिखाते हैं कि वे एक-दूसरे के भेद खोलें। यहां तक कि अपने अभिभावकों के भी। (मनोवृत्ति स्कूल- अध्याय दो)। यह लेखक का 31 जनवरी, 1990 को न्यूयार्क राज्य द्वारा पुरस्कृत होने पर दिया गया व्याख्यान है। वे कहते हैं- मुझे नहीं लगता कि हमें स्कूलों से निकट भविष्य में छुटकारा मिलेगा, कम से कम मेरे जीवन काल में तो कदापि नहीं, परंतु यदि हमें तीव्र गति से बढ़ते अज्ञान के प्रलय को रोकना है, तो हमें समझना होगा कि स्कूल संस्था 'स्कूल' तो ठीक से चलाती हैं पर 'शिक्षित' नहीं करती। एक और विलक्षण बात विचारणीय है- घर पर पढ़ाने का आंदोलन धीरे-धीरे प्रगति करता हुआ इस मुकाम पर आ पहुंचा है कि आज अमेरिका में पांच लाख बच्चों को संपूर्ण शिक्षा उनके अभिभावकों द्वारा ही दी जा रही है। गत माह शिक्षा प्रेस ने एक विस्मयकारी खबर दी कि घरों में शिक्षित बच्चों की सोचने की योग्यता, उनके औपचारिक रूप से शिक्षित हम उम्र बच्चों से पांच से सात वर्ष आगे है।

घर-स्कूल के विचार को भारत में सरकारी स्तर पर व्यापक रूप से तेजी से फैलाने की जरूरत है। क्या कोचिंग की बढ़ती दुनिया घर-स्कूल का ही विस्तार नहीं है? विशेषकर जब बढ़ती जनसंख्या और जन आकांक्षाओं के कारण स्कूल, कॉलेजों में पढ़ने की जगह ही नहीं हो तो घर-स्कूल का विकल्प एक वरदान साबित हो सकता है।

पांचवें और अंतिम अध्याय में वे खीजकर निष्कर्ष देते हैं कि अब यह सब बंद होना चाहिए। स्कूलों की यह पद्धति किसी काम की नहीं है और इसी के कारण हमारा संसार विखंडित हो रहा है। कितना भी ठोक-पीट करें हमारी स्कूल-रूपी मशीन शिक्षित लोगों का उत्पादन नहीं कर सकेगी। शिक्षा और शिक्षा प्रणाली (स्कूल), जैसा कि हमने अनुभव किया है परस्पर विपरीत शब्द हैं। 1930 में, साठ वर्ष पूर्व टामस ब्रिग्स ने हार्वर्ड में व्याख्यान देते हुए कहा था, 'माध्यमिक स्कूलों पर राष्ट्र का निवेश कोई अच्छी उपलब्धि नहीं दर्शाता है; दो दशक बाद, 1951 में, लॉस एंजेल्स के स्कूलों में 30,000 बच्चों के सर्वेक्षण में पाया गया कि आठवीं ग्रेड के पचहत्तर फीसदी बच्चे नक्शे में एटलांटिक महासागर नहीं बता सके और उनमें से अधिकांश छत्तीस के पचास प्रतिशत की गणना नहीं कर सके। मैं अपने अनुभव से गवाही दे सकता हूं कि आज भी स्थिति निश्चित रूप से उतनी ही खराब है।

आप इसे भारतीय स्कूलों के संदर्भ में प्रथम और दूसरी संस्थाओं द्वारा किए सर्वेक्षण की रोशनी में देखिए। हमारे यहां स्थिति लगातार बिगड़ती जा रही है। पिछले दिनों स्कूलों की इमारतें जरूर ठीक हुई लेकिन शिक्षा, समझ का स्तर भयानक रूप से गिर रहा है। जॉन गेट्टो की किताब हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था के लिए बहुत मददगार हो सकती है।

आश्चर्य की बात है कि शिक्षा की सबसे

बुरी गत भारत में बनी हुई है। बावजूद इसके शायद ही कोई पुस्तक इधर देखने को मिली हो जो स्कूल, कॉलेज की संस्था को इस अंदाज में खारिज करती हो जैसे जॉन होल्ट की 'असफल स्कूल' या जॉन गेट्टो की 'डम्बिंग अस डाउन'। घर स्कूल या समरहिल जैसे नए प्रयोग भी यूरोप, अमेरिका में ही लगातार हो रहे हैं जबकि हमारे यहां निजी स्कूल विशेष तौर पर इस स्कूली जकड़न को और बढ़ा रहे हैं। जकड़न बढ़ाने का एक भयानक पक्ष विदेशी भाषा पर ज़ोर इस कद्र हावी है कि 'मूढ़ बनाने का कारखाना' सचमुच ज्यादातर भारतीय स्कूलों पर चस्पां किया जा सकता है।

स्कूल में आज तुमने क्या पूछा कि लेखिका कमला मुकुन्दा मनोविज्ञान की अध्येता हैं, न्यूयार्क से शैक्षणिक मनोविज्ञान में पीएच.डी.। कमला का मानना है कि शिक्षक और मां-बाप शिक्षा के प्रश्नों पर उतने ही गंभीर होते हैं, उनके उत्तर जानना चाहते हैं जितना कि मनोवैज्ञानिक। लेकिन विद्वान मनोवैज्ञानिक बिरले ही इस पाठक वर्ग के लिए लिखते हैं। कमला की पुस्तक उसी की भरपाई का बहुत गंभीर प्रयास है। अलग-अलग संदर्भ समय पर लिखी दोनों पुस्तकों के निष्कर्ष कितने समान हैं, यह दोनों को पढ़कर जाना जा सकता है।

कमला आमुख में ठीक ही लिखती हैं कि हमारे विद्यार्थी वास्तव में कुछ भी नहीं समझते हैं क्योंकि यहां रटने पर जोर दिया जाता है। स्कूल की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में ही दोष है। मस्तिष्क वास्तविक जगत के संदर्भों से सीखने में अच्छा होता है जबकि स्कूल अमूर्त या पाठ्य-पुस्तकों से सीखने पर बल देते हैं। शिक्षा में सुधार के लिए शायद हमें अधिक सक्रिय व करके सीखने वाले अनुभवों की जरूरत है।

कमला ठीक कहती हैं कि स्कूल से मुक्ति आसान नहीं। हम 'अपने बच्चों को यों नहीं छोड़ सकते' कि वे जो चाहें उतना भर सीख लें; समाज की मांगों के संदर्भ में देखें तो, ऐसा करना मेरे विचार से गैर-जिम्मेदारी होगी। इस आवश्यकता को स्कूली शिक्षण कितनी अच्छी तरह हासिल करता है इस छानबीन में मदद के लिए हमें इस विषय में अधिक जानना होगा कि मस्तिष्क कैसे काम करता है।

आश्चर्य की बात है कि शिक्षा की सबसे बुरी गत भारत में बनी हुई है। बावजूद इसके शायद ही कोई पुस्तक इधर देखने को मिली हो जो स्कूल, कॉलेज की संस्था को इस अंदाज में खारिज करती हो जैसे जॉन होल्ट की 'असफल स्कूल' या जॉन गेट्टो की 'डम्बिंग अस डाउन'।

कमला क्योंकि मूलत: मनोवैज्ञानिक है अत: पूरी पुस्तक की संरचना ही उसी सांचे में की गई है। ग्यारह अध्यायों में बंटी। मस्तिष्क और शिक्षण, सीखना स्मृति, बाल-विकास, प्रकृति और परवरिश, नैतिक विकास, बुद्धिमत्ता, प्रेरणा सीखने का मापन, भावनाएं, सीखना और भावनात्मक स्वास्थ्य और किशोरावस्था। हर अध्याय में एक विद्वान शोधकर्त्ता की तरह उप-बिंदु भी दिए गए हैं जिससे पाठक को अपने लक्ष्य बिंदुओं पर पहुंचने में मदद मिलती है।

शिक्षा से ताल्लुक रखने ाले प्रमुख मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में हो रहे समसामयिक शोध भी यथास्थान कमला ने शामिल किए हैं। नि:संदेह यह किताब मुख्यत: शिक्षकों के लिए ज्यादा उपयोगी है। फिर भी आमजन के लिए उनके निम्न निष्कर्ष उतने ही उपयोगी हैं।

- सीखना हमेशा मजेदार होना चाहिए।
- स्कूल किसी लक्ष्य का साधन मात्र है।
- कक्षा में विविधता एक समस्या है।
- बच्चों को स्वतंत्र विचारक बनना सिखाना चाहिए।
- बच्चों को वयस्कों की तरह सोचना सीखना चाहिए।
- कोई भी कुछ भी सीख सकता है।
- बच्चों को सीखना चाहिए कि वे अपने आपको असली दुनिया के माफिक कैसे बनाएं।
- बच्चे अपनी ही गति से सबसे अच्छी तरह सीखते हैं।

कमला की किताब पर बच्चों और विज्ञान लेखन के लिए मशहूर अरविन्द गुप्ता की राय भी महत्वपूर्ण है- एक प्रतिबद्ध शैक्षिक कार्यकर्ता द्वारा लिखी यह किताब बाल मनोविज्ञान पर पिछले तीस सालों के शोध का सार प्रस्तुत करती है। अपनी सरल और रवानगी-भरी शैली में यह कई ऐसे मिथकों को ध्वस्त करती है जो बच्चों के सीखने के बारे में प्रचलित हैं, और प्रगतिशील शिक्षण पद्धति में हमारे विश्वास को और पुख्ता करती है। साथ ही शिक्षकों के चिंतन-मनन के लिए यह शोध के कई नए दायरे सामने रखती है। भारतीय संदर्भों की जमीन पर मजबूती से खड़ी इस किताब को शिक्षा जगत के हरेक गंभीर कार्यकर्ता को जरूर ही पढ़ना चाहिए। कमला की पुस्तक पर प्रोफेसर यशपाल की टिप्पणी भी जॉन गेट्टो की तरह प्रकारांतर से स्कूल की संस्था को खारिज करती हैं। यशपाल कहते हैं- 'संभवत: स्कूल अक्सर ही कुछ अनमोल विशेषताओं को नष्ट कर डालते हैं।' सैकड़ों चित्रों, स्कैच, बॉक्स, संदर्भ और इंडेक्स से समहित एकलव्य द्वारा पूरी प्रस्तुति ही बहुत आकर्षक है। विषयवस्तु से भी ज्यादा। शिक्षा की तस्वीर बदलने में लगे हर व्यक्ति को इन्हें पढ़ना चाहिए। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 46

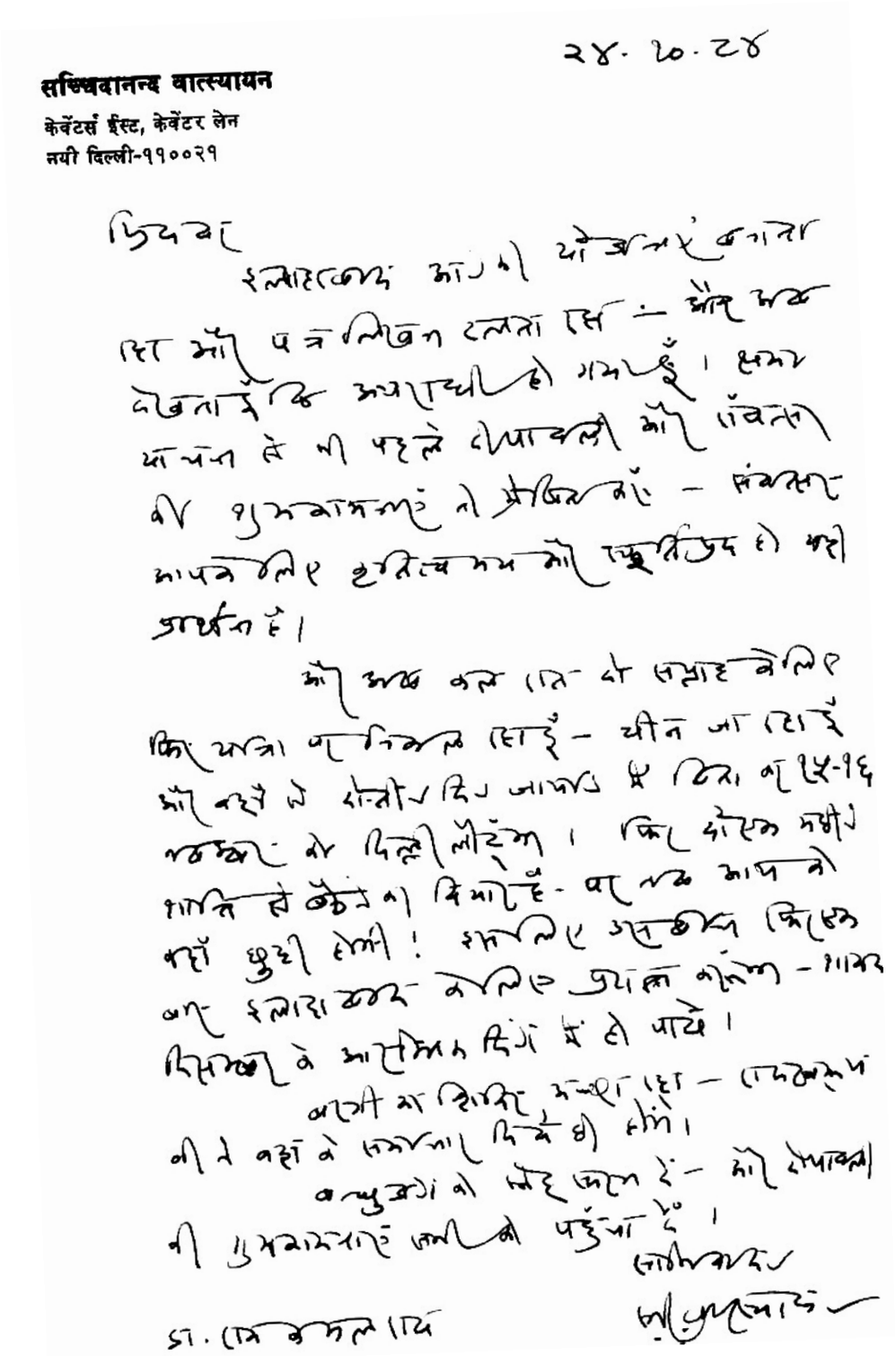

२४. ८०. ८४

सच्चिदानन्द वात्स्यायन
केवेंटर्स ईस्ट, केवेंटर लेन
नयी दिल्ली-११००२१

प्रियवर

इलाहाबाद आने की योजना कुछ
दिन और स्थगित करना पड़ा है — और अब
देखता हूँ कि अगहन ही लग जाएँगे। इसका
कारण तो मैं पहले बता चुका हूँ और उसमें
दो मुकदमों ने प्रमुख भाग लिया है — संक्षेप में
आपके लिए इतिहास की स्मृति ताज़ा कर देना
आवश्यक है।

मैं आज कल रात को सप्ताह के लिए
किसी यात्रा पर निकल रहा हूँ — चीन जा रहा हूँ
और वहाँ से वापसी दिल्ली जाकर ही होगी। १५-१६
नवम्बर को दिल्ली लौटूँगा। कि दो एक सप्ताह
शान्ति से बैठने का दिमाग़ है — पर घर आप को
कहाँ छुट्टी होगी! इसलिए सम्भव कि दिल्ली
ही इलाहाबाद के आनन्दमय दिनों में हो जाये।

अज्ञेय का हिन्दी मन्थन रहा — रामकमल
जी ने वहाँ के समाचार दिये थे होंगे।

बच्चुओं को मेरा प्यार दें — मैं दोपहर
की फ्लाइट से पहुँचा दें।

सादर

डा. रामकमल राय

अज्ञेय

अज्ञेय द्वारा रामकमल राय को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 47

एक दलित छात्र के जीवन का सच

■ **रमेश चन्द मीणा**
आलोचक

संपर्क : 2-ए-16,
जवाहर नगर, बूंदी, (राज.)

आत्मकथा हिंदी साहित्य की अपेक्षाकृत नई विधा है और हर वर्ष कई दलित आत्मकथाएं इस कड़ी में जुड़ रही हैं। इनमें कई बिना किसी चर्चा के भी रह जाती हैं। जितनी चर्चा तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' या 'मेरी पत्नी और भेड़िया' की हुई है उतनी किसी अन्य की नहीं। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' की अपनी जगह है। इसी कड़ी में आती है 'सुख-दुख के सफर में'। डॉ. उमेश कुमार सिंह की यह आत्मकथा इस मायने में अपनी अलग जगह बनाती है यह साधारण है, न कि बेवजह गैर दलित को गरियाने, रोने-धोने की कथा नहीं बन पाई है पूर्वग्रह से मुक्त यह एक साफ-सुथरी कृति है। चरित नायक की सोच का दायरा वैश्विक व मानवीय है। विदेश व अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय परिसर में रहने के अनुभव ने लेखक दलित और गैर-दलित होने की सीमारेखा को बेहद बारीक दृष्टि से देखने की समझ दी है।

यह शीघ्र ही पाठक से रिश्ता जोड़ लेती है। किसी तरह का दर्शन बघारने का दावा नहीं है। अपने को बड़ा बताने से बचा गया है। एक मामूली से घर में, मामूली सी जाति में पैदा होने के बावजूद इंसानियत कभी छोटी नहीं होती। रचना में भरसक अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए कई राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय उदाहरण दिए गए हैं। आत्मकथाकार की यह समाज कथा भी रही है। अपनी जाति व समाज पर सारगर्भित बेलाग टिप्पणियों के चलते इस कथा का समाजशास्त्रीय महत्व बढ़ जाता है। दलित वर्ग, समाज व घर का जातीय दंश अपने मूल रूप में उपस्थित है। आत्मकथाकार का घर पूरा दलित समाज रहा है जो गांव से आगे जाकर देश तक फैल जाता है। दलित समाज की गरीबी हिंदू समाज की देन रही है। आत्मकथा में आत्मकथाकार का बचपन, जन्म, बीमारी, समाज, परिवेश और शिक्षा के अलावा कर्ज, गरीबी, गीत आल्हा, ढ़ोला जैसे कई ऐसे पहलू हैं जो इस कृति को आम दलित आत्मकथाओं से अलग करते हैं। आत्मकथा की भूमिका लिखते हुए श्योराज सिंह बेचैन मानते हैं- 'इस आत्मकथा ने लुप्त हो रहे दलितों के लोकगीत, तीज त्यौहार जिंदा किए हैं।...मैंने अपनी आत्मकथा में काफी चीजें लिखी है, परंतु उमेश ने जो टेसू गीत दिए हैं, वे मुझसे छूट गए हैं।' (भूमिका पृष्ठ-10)। वस्तुतः हर दलित आत्मकथा पिछली से आगे की कड़ी बनती है।

'र' की कथा 'उ' के द्वारा। वैसे कहा जाता रहा है कि नाम में क्या रखा है ? घर वालों ने नाम रखा रमेश और इसी नाम से पुकारे जाते रहे हैं। पर स्कूल अध्यापक द्वारा उमेश लिख दिए जाने पर उमेश के रूप में ही जाने पहचाने जाते हैं। (पृष्ठ-10) शिक्षा ही है जो पशु से आदमी बनाती है। दलित आत्मकथाओं ने बहुत बड़े अंधविश्वास को तोड़ने का काम भी किया है। माना गया है कि सरस्वती ही शिक्षा देती है। दलित तबके से यह देवी हमेशा रूठी रही है। देवताओं से दूर रहने वाले दलितों के साथ सरस्वती का क्या जोड़ हो सकता है? लेकिन दलितों ने यह साबित किया है कि चाहे कितनी भी विकट परिस्थितियां क्यों न हों अगर वे मेहनत करें तो उन्हें आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता है चाहे वह 'मुर्दहिया' में रहकर या 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' लेकर रहे हों पर अपने बल पर ही शिक्षा हासिल की जा सकी हैं। रमेश उर्फ उमेश के गांव से कोई भी माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश लेने दूसरे गांव नहीं जा पाता है। आखिर जाएं भी तो कैसे? सारी परिस्थितियां विपरीत व विरोध में जो रही हैं। नगौला गांव से अपवाद बन सका है रमेश तो इसलिए कि जिद भरपूर रही है।

फटेहाल दलित छात्र का एक भव्य शाही विश्वविद्यालय में प्रवेश। नगौला गांव से शायद पहले दलित छात्र रहे हैं, जिसने सपना देखा और साकार किया। शिक्षा शूद्र को न मिले सारे शास्त्र इसी कोशिश

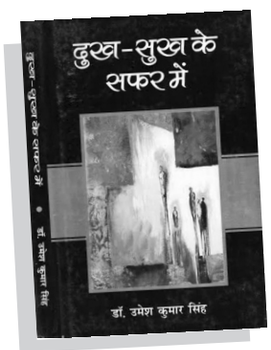

पुस्तक : दुख-सुख के सफर में
लेखक : डॉ. उमेश कुमार सिंह
प्रकाशक : साहित्य संस्थान, गाजियाबाद
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹ 350

में लगे रहे हैं, दलित न पढ़े यह उपक्रम आज तक भी लगातार जारी है। अगर कोई शिक्षा को ही सपना बना ले तो साकार होने से कोई बला भी नहीं रोक सकती। दलित बस्ती के बाशिंदे भी उमेश के सपने को गलत बतलाते, मजाक करते, घर में कानी कौड़ी नहीं, पहनने को कपड़े नहीं, खाने को दाने नहीं, ऐसे में शिक्षा जैसे मजबूत किले में प्रवेश यानी सुराख करना मुश्किल होते हुए भी किया जाता है।

शिक्षा किसी मजाक से कम नहीं रही है, पिछड़ों, दलितों और आदिवासियों के लिए। वे सिरफिरे ही होते हैं जो इस सपने को पालते हैं और साकार कर लेते हैं। आजादी के बाद के तीसरे चौथे दशक तक आते-आते शिक्षा एक वर्ग-उच्च वर्ग, सवर्ण तबके के लिए आरक्षित रही है भले ही संवैधानिक तौर पर दलितों के लिए पाने, लेने का पूरा हक था पर इस आत्मकथा से गुजरने पर सहज ही लगता है कि कितने छात्र नगौला से शिक्षा पा सके हैं? वे तो उमेश के अलीगढ़ विश्वविद्यालय के फार्म लाने/भरने पर ही बहस करने लगते हैं। वे मजाक उड़ाने से नहीं चूकते।

दलित बस्ती में शिक्षा का माहौल बिल्कुल नहीं होता है। वे काम करने व खेलने-कूदने में विश्वास करते हैं। स्कूल जाते समय मूली-गाजर खेतों से कुछ चुरा लेना गलत नहीं मानते। यहां तक कि उमेश अगर ऐसा नहीं करता तो भी उसे चोरी की खाने की वस्तु में बाकायदा हिस्सा मिल जाता है। पांचवीं के इम्तहान के लिए दूसरे गांव जाना पड़ता है। जहां रात में ठहरने की व्यवस्था में भेदभाव होता है। सवर्ण छात्र ठाकुर के यहां ठहरते हैं, दलित छात्र गंदी नाली के चबूतरे पर रहते हैं। पानी जब चाहे पी लेना संभव नहीं है। इन्हें पानी के लिए सवर्ण बच्चों का इंतजार करना पड़ता था। प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआं' या भीमराव अंबेडकर के संघर्ष का चश्मदीद उदाहरण रहा है- कोलाबा जिले का महाड़ गांव का चवदार तालाब आंदोलन। भेदभाव

दलित बस्ती से विश्वविद्यालय परिसर में प्रवेश का वर्णन रोचक है। पहली बार गांव के दायरे से निकलने वाला। छोटी जगह से बड़ी जगह जाने वाला लड़का, जिंदगी भर जो फटेहाल रहा हो वह भव्यता देखकर किस तरह से चकाचौंध होता है? इससे भी बड़ी बात है कि नितांत गरीबी में यह सब कर लेना आसान नहीं था।

को पोषित करने वाली कथित हिंदू रूढ़ मानसिकता इस प्रकरण से स्पष्ट हो जाती है- 'तालाब में पशु लौटते थे, पंछी पंख भिगोते थे, परंतु अछूतों को उस तालाब का पानी छूने तक की मनाही थी। शिक्षा से रोकने के हर संभव उपाय किए जाते थे। दलित छात्र विद्या लेने के और सवर्ण रोकने के उपक्रम करते हैं। 'विद्या मो पै आ। विद्या मो पै आ।' जब कभी उनके बस्ते से किसी का पैर छू जाता, वे इस शब्द का उच्चारण बार-बार करते। दलित विद्या पाने के लिए टोटके करने से भी पीछे नहीं थे। (पृष्ठ-54) बुद्दिका और स्याही में सवर्ण छात्र पेशाब कर देते हैं। शिक्षक उन्हें अधिक मारते, 'बात-बात पर बुरी तरह से पीट डालते थे। दलित छात्र अगर कभी शिकायत भी करे तो उनकी कौन सुनने वाला था। (पृष्ठ-55) शिकायत करने पर इन्हें ही डांट सुननी पड़ती थी-'अरे उमेश! काहे को बन्ने/ मूढ़े बनाई रहियों है। भैन...तेरे पुरखा ऊ पड़े हैं जों तू पड़ि जाइगो। चलि बैठ जा।' 'लिखा परदेश किश्मत में, वतन को याद क्या करना। जहां बेदर्द हाकिम हो, वहां फरियाद क्या करना।' ऐसे माहौल में गांव से लेकर अलीगढ़ तक की दूरी तय करना कोई मामूली बात नहीं थी।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने व वहां के परिसर का रोचक वर्णन किया गया है। एक दलित छात्र का पहली बार हिंदू समाज के बरअक्स मुस्लिम परिवेश में शिक्षा पाने का अनुभव एकदम नया है। नया इस अर्थ में कि हिंदू व्यवस्था की बीमारी उसके दायरे तक ही रही है। अगर अंबेडकर हिंदू धर्म छोड़ने का निर्णय लेते हैं तो वह क्यों कर सही था। इस आत्मकथा को पढ़कर भी सहज ही समझ सकते हैं। दलित बस्ती से एक विश्वविद्यालय परिसर में प्रवेश का वर्णन रोचक व भौंचक कर देने वाला है। पहली बार गांव के दायरे से निकलने वाला। छोटी जगह से बड़ी जगह जाने वाला लड़का, जिंदगी भर जो फटेहाल रहा हो वह भव्यता देखकर किस तरह से चकाचौंध होता है? इससे भी बड़ी बात है कि नितांत गरीबी में यह सब कर लेना आसान नहीं था। यह वर्णन सिनेमा के दृश्य सा लगता है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय की छाप उमेश पर जेएनयू में पढ़ते हुए भी अगर नशे की तरह छायी रही तो ठीक ही थी। तब हम इनके इस नशे को नहीं समझ सके थे क्योंकि हमारे लिए जेएनयू सबसे बड़ा था और रहेगा भी। जिसे हम किसी सूरत में अस्वीकार नहीं कर सकते थे, पर आज जबकि मैं आत्मकथा पढ़ चुका हूं तो कह सकता हूं कि उमेश का कहना भी कम सही नहीं था। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय परिसर सालभर में दंगों के चलते कितनी ही बार बंद हो सकता है और हुआ भी। तब इन्हें तीन दिन तक भूखे रहकर गुजारने पड़ते हैं। इस परिसर ने भव्यता, सलीका और एक जज्बा दिया है। छात्र संघ का चुनाव परिसर में लड़ने वाला पहला होता

है उमेश, गांव में चुनाव लड़कर ठाकुरों को चुनौती देने वाला पहला होता है, नगौला गांव से विदेश जाने वाला और किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाला उदाहरण भी पहला ही। आखिर भेड़िया के जबड़े से बचकर जीने वाला भी उमेश ही होता है।

दलित आत्मकथाओं में भेड़िया जिस तरह से जगह पा रहा है मसलन 'भेड़िया और मेरी पत्नी' के बाद अब उमेश की जिंदगी पर दांव लगाने वाला भेड़िया यथार्थ है। धर्मवीर के यहां प्रतीक में ही आया है। हालांकि प्रतीक में आया भेड़िया धर्मवीर की जिंदगी को पटरी पर नहीं आने दे रहा है। उमेश उस भेड़िये को बहुत पीछे छोड़ आए हैं और भूल गए हैं पर धर्मवीर का पीछा आज तक भी वह भेड़िया कर रहा है।

श्योराज सिंह बेचैन ने यूं ही भेड़िया का जिक्र कर दिया था। पर दोनों भेड़ियों में बहुत अंतर है। एक जानवर है दूसरा मनुष्य है। जानवर के जबड़े से बचा जा सकता है पर मनुष्य बड़ा भेड़िया है। उमेश के लिए गांव एक ऐसी पाठशाला रही है जहां पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सीखे पाठ का प्रयोग गांव में किया जाता है। पंचायत सदस्य से लेकर उपप्रमुख का चुनाव जीतना, बिजली लगवाना, वाल्मीकियों के घर तक बिजली पहुंचाने में मदद देना उमेश के सार्थक और सामाजिक कदम रहे हैं।

रचना में गांव का समाजशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थित हुआ है- नगौला गांव केंद्र में रहने से प्रमुख है तो अन्य गांव है- मंदिर नंगला, लटलोई। मंदिर नंगला नाना का गांव है और उमेश नाना के गांव बहुत रहे, जीवन वहीं मिलता है। नगौला गांव बेशक अन्य गांव जैसा ही है पर उस समय की सामाजिक ऊंच-नीच, जातीय भेदभाव को सहज ही समझा जा सकता है। दलित आत्मकथाओं ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि जिस गांव से आत्मकथाकार होता है उसके दो-तीन दशक का समग्र चित्र आकार ले चुका होता है। इस तरह गांव को कई कोणों से देखा समझा जा सकता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से काम करने वालों के लिए एक अच्छा माध्यम बन सकता है।

आत्मकथा के कई पक्ष, रूप और कोण हो सकते हैं। उसका शिल्प, भाषा और विषय के साथ संबंध भी कई तरह का हो सकता है। आत्म-कथाकार का घर, गांव के अलावा संयुक्त परिवार की सामूहिकता का मनोहारी दृश्य यहां है जिसमें बाबा, दादा से लेकर उनके पोते गरीबी के बावजूद रह रहे हैं। बाबा, मामा, नाना का पूरा असर उमेश पर रहा है।

आत्मकथा के कई पक्ष, रूप और कोण हो सकते हैं। उसका शिल्प, भाषा और विषय के साथ संबंध भी कई तरह का हो सकता है। आत्म-कथाकार का घर, गांव के अलावा संयुक्त परिवार की सामूहिकता का मनोहारी दृश्य यहां है जिसमें बाबा, दादा से लेकर उनके पोते गरीबी के बावजूद रह रहे हैं। बाबा, मामा, नाना का पूरा असर उमेश पर रहा है। मामा जो साधु बनने के लिए घर से भागते हैं तो उमेश को भी एक बार लगा कि नागा बन जाऊं। उमेश उपन्यास के पात्र की तरह ही लगता है। कपड़े और मीठा खाने से बेहद लगाव, दोस्ती का लंबा चौड़ा फैलाव, आकार-प्रकार। जिसमें अलीगढ़ के लड़के व लड़कियां है तो गुरु के. पी. सिंह आदर्श शिक्षक के बतौर छाप छोड़ते हैं लगता है इन पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा है। कपड़े से इनका लगाव जगजाहिर है। जलेबी देखकर आप अपने आपको नहीं रोक सकते हैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में अध्येता होने पर भी जब भी बाहर निकलते तो गर्म-गर्म जलेबी निकलती देखकर अपने को रोकना मुश्किल हो जाता, भले ही फिर शाम का खाना ही क्यों न छोड़ना पड़े। कृति में बहुत सी बातें, घटनाएं और भी हैं जो छूट गई हैं। दलित छात्र के लिए शिक्षा पाना सचमुच मुश्किल होता है।

कृति में प्रूफ की गलतियां हैं। कई शब्द क्षेत्रीय हैं। पैठ-बाजार, घेर- जहां जानवर भी रहे और आदमी भी उस स्थान के लिए। कसाले-मेहनत, मटर, जो के आटे की रोटी खाने का बिम्ब देखने योग्य है। कुबड्डु-अनपढ़, परेवट-खेत को पानी पिलाना, परलोह-प्रलय, इंतजामिया-वाइस चांसलर। कपड़े पहनने का सलीका आप इनसे मिलकर सहज ही देख सकते हैं। खाने का सवाल भूख से लड़ने वाले के साथ हमेशा रहेगा ही। मीठा खाना और वह भी जलेबी से प्रेम से, आप भी दो चार हो सकते हैं- 'मैंने एक पाव जलेबी खरीद करके वहीं जमीन पर पैरों के बल उकड़ू बैठकर बड़े मन से खाई थीं। आहा! उन जलेबियों का क्या स्वाद था। जलेबी खाते हुए जीभ जलने के साथ-साथ उनसे रस टपक-टपक कर गिर रहा था। बीच-बीच में मक्खियां भी जलेबी में हाथ मार रही थी। ...मैंने जब जलेबी खा ली थीं, उसके बाद उस कागज पर लगी चासनी को भी जीभ से चाट लिया था।' (पृष्ठ-151) आ की मात्रा बेवजह कई जगह पर लगी है मसलन 'अछूत' (पृष्ठ-151) कुछ अड़चनों को छोड़ दिया जाए तो उमेश के सुख-दुख शिक्षा से दो-चार हो रहे दलित बालक के रहेंगे ही इससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता, इसे बखूबी उकेरने व चित्रित करने में आत्मकथाकार बहुत हद तक सफल रहा है। बधाई। ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 50

हिंदी कविता के पचास वर्ष को समझने की कोशिश

डॉ. अशोक नाथ त्रिपाठी

संपर्क : साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001

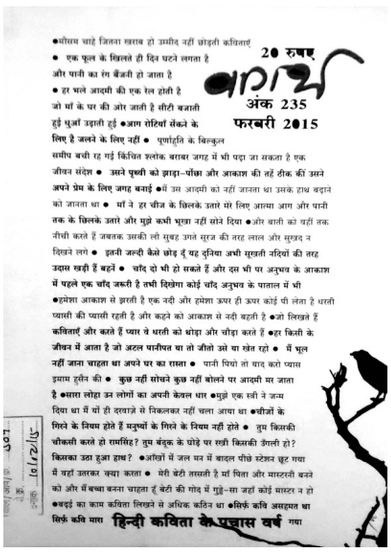

वागर्थ

वागर्थ के इस अंक के साथ ही हिंदी कविता के पचास वर्षों की यात्रा पूरी होने की घोषणा की गई है। इस सिलसिले में पत्रिका के द्वितीय आवरण पृष्ठ पर रांगेय राघव की पंक्ति- 'काव्य तो चेतना का ही पर्याय है' सटीक प्रतीत होता है। हम देखें तो चेतना से भाषा का सृजन होता है और कहे अन कहे तमाम अर्थ अपनी जगह पाते हैं। आक्टोबियो पाज की कविता 'भोर की पंक्तियां' भी सहसा कौंध उठती हैं।

'तेज गति से ठंडे हाथ
एक-एक कर
खोलते हैं पट्टियां
मैं खोलता हूं अपनी आखें
अब तक
मैं जीवित हूं
उस घाव के साथ
जो अभी ताजा है'

पाज एक ऐसे रचनाकार है जो हृदय को छू लेते हैं और हमेशा पाठकों के बीच अपनी उपस्थिति बनाने में कामयाब रहे है। कविता के बहाने अपने मन की बात संप्रेषित ही कर देते हैं।

इस अंक के संपादकीय 'आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास' में कई घोषणाएं दीख पड़ती हैं। यह संयोग है कि 'अंधेरे में' कविता की रचना के पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। आधी सदी कुछ कम नहीं होती और इसी का संज्ञान लेते हुए नंदकिशोर नवल ने अपने आलेख 'हिंदी कविता: नई कविता से नवीनतम कविता तक' में महत्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं के बहाने उनकी रचनाशीलता का आकलन किया है। वह यह मानते हैं कि हिंदी कविता ने काव्य यात्रा में कई रूपों को धारण किया है और कई का परित्याग भी। उसे ऊंचाइयां भी मिली और उसे उन ऊंचाइयों पर से गिराने का प्रयत्न किया गया।

नवल जी हिंदी कविता को लेकर बेबाक टिप्पणी भी करते हैं। मसलन 'सात गीत वर्ष' को उन्होंने भारती का एक परिपक्व संग्रह घोषित किया है। वे युवा पीढ़ी की पराजय भावना को अच्छे ढंग से उकेरा गया। साही के बारे में अपनी बात रखते हुए करते हुए नवल जी कहते हैं कि समय के साथ साही की दृष्टि भी परिवर्तित होती गई। वे पहले तो अज्ञेय से प्रभावित थे पर बाद की रचनाओं में उन्होंने स्वतंत्र शैली अपनाई। इसी प्रकार उन्होंने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कुंवर नारायण, राज कमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, अशोक वाजपेयी तथा लीलाधर जगूड़ी जैसे आधुनिक कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों की कविताओं पर सुचिंतित और सारगर्भित चिंतन प्रस्तुत

आधी सदी कुछ कम नहीं होती और इसी का संज्ञान लेते हुए नंदकिशोर नवल ने अपने आलेख 'हिंदी कविता: नई कविता से नवीनतम कविता तक' में महत्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं के बहाने उनकी रचनाशीलता का आकलन किया है। वह यह मानते हैं कि हिंदी कविता ने काव्य यात्रा में कई रूपों को धारण किया है और कई का परित्याग भी।

किया है। विजय बहादुर सिंह का 'हिंदी कविता के पचास वर्ष' शीर्षक आलेख भी महत्वपूर्ण है। आलेख की शुरुआत ही वह एक बड़े सरोकार से करते हैं: 'साहित्य को जब हम विचारधाराओं और कविता को दशकों में बांट कर देखने लगते हैं तब जो बड़ी दुर्घटना होती है, वह यह है कि इसमें परंपरा और सनातनता के तत्वों को क्षति पहुंचती है और कवि का ठीक से मूल्यांकन नहीं हो पाता' विजय बहादुर जी की यह चिंता वाजिब है क्योंकि समय या उसका प्रभाव क्षणिक नहीं होता उसके दूरगामी परिणाम भी प्रश्नांकित हो सकते हैं। साहित्य के विकास क्रम का यह बंटवारा कृत्रिम और अपर्याप्त होने के कारण अनपेक्षित और एक हद तक भ्रामक समझ पैदा करता है।

रामनिहाल गुंजन का आलेख भी लगभग इसी प्रसंग को रेखांकित करता है। जय प्रकाश ने अपने आलेख में भी कमोबेश यही बात स्वीकार की है। 'मुक्तिबोध के बाद की कविता: सरसरी निगाह से' नामक आलेख में भी यही स्वर उपस्थित है। रमणिका गुप्ता का आलेख 'आदिवासी कविता : कलम को वीर बनाने की प्रक्रिया' महत्त्वपूर्ण है। उनका मानना है कि आदिवासी साहित्य श्रुति परंपरा में ही सुरक्षित है। लगभग सौ वर्ष पहले आदिवासी लोक साहिय की वाचिक-यात्रा के लिपिबद्ध होने की प्रक्रिया शुरू हुई। आदिवासी साहित्य के समकालीन रूप के पीछे लोक और वाचिकता की लंबी परंपरा दिखाई है। महादेव टोप्पो की निम्नांकित कविता रोमांचित करती हैं -

'इससे पहले कि
वे पुन: तुम्हारा अपने ग्रंथों में
बंदरालू या
किसी अन्य जानवर के रूप में करें वर्णन
तुम्हें आदमी होने की
तलाशनी होगी परिभाषा
उनके सिद्धांतों स्थापनाओं के विरुद्ध।'

इस समय आदिवासी मन और जन पूर्ण चैतन्य हो कर अपनी छवि के प्रति सहज एवं सचेत है। सुनीता गुप्ता का आलेख 'हिंदी कविता में स्त्री स्वर' भी महत्वपूर्ण है, उनका यह मानना है कि स्त्री कविता की अपनी एक समानांतर दुनिया है और इसे स्त्री और पुरुष की विभाजित दुनिया के रूप में देखा जाना चाहिए। दरअसल, यह लेख एक खास वैचारिकी की वकालत जरूर कर रहा है लेकिन इससे साहित्य और कविता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस पर भी सोचने की जरूरत है। ज्ञान प्रकाश विवेक का 'मैं जा रहा हूं मगर लौट कर भी आऊंगा', दिव्या माथुर का 'अभिनय' भी पठनीय नहीं है। कुल मिलाकर इस अंक के बहाने हिंदी कविता के पचास वर्ष को कई कोणों से देखने और समझने की कोशिश की गई है।

नया ज्ञानोदय

नया ज्ञानोदय धीरे-धीरे संस्कृति के समग्र आख्यान का रूप लेता जा रहा है। इस

समय ऐसी पत्रिकाओं का अकाल-सा है, इसलिए पाठकों को इस पत्रिका का इंतजार रहता है। यह अंक एक साथ साहित्य की विधाओं की सर्जनात्मक उपलब्धियों के साथ विभिन विमअतर्पीबीपर्द को भी सामने रखता है। साहित्य का जीवन समाज और संस्कृति के संवाद के साथ जुड़ा होता है यह एक सुखद अवसर है कि 'नया ज्ञानोदय' इस संवाद को निरंतर आगे बढ़ाने में महती भूमिका निभा रहा है। इस तरह की पहल से इस बात की आशा जरूर बंधती है कि पाठकों का संस्कार और स्वाद जरूर बदलेगा। गांधी को समझने में श्रीमन्नारायण का आलेख अपेक्षाकृत छोटा होने पर भी काफी स्पष्ट और सार्थक है। वह यह कहते हैं और तर्क के साथ कहते हैं कि गांधी के विचार फंतासी नहीं थे, वे नैतिक मूल्यों और बुनियादी समस्याओं पर आधारित उपायों से देश को संबोधित करते थे। उनका यह मानना था कि साधन की शुद्धता और अंतर्मन की पवित्रता ईश्वर में आस्था के साथ जुड़ी हुई है। इस सबका गांधी जी के जीवन में स्पष्ट प्रकटन हुआ है। श्रीमन्नारायण का आलेख यह बताता है की गांधी में युग के भविष्य की संभावना है।

इस अंक का एक बड़ा हिस्सा स्मृति आख्यान पर एकाग्र है। उसमें साहित्य और साहित्यकारों की एक बड़ी रेंज के साथ उठने-बैठने, बात करने और सघन गहनता के साथ और भावों में डूबने-उतराने का अवसर प्राप्त होता है, यह भी पता चलता है की हमारी स्मृति क्या-क्या करती है। गगन गिल, विलियम हेनरी स्लिमेन, संतोष चौबे, रामप्रकाश त्रिपाठी, शैलेन्द्र शैल, रेखा कस्तरवार तथा शशि नारायण 'स्वाधीन' के स्मृति-लेखों ने बहुत कुछ प्रत्यक्ष कराया है। इस तरह की प्रस्तुति के लिए बधाई। कविता समय की कविताएं और कथालोक के अंतर्गत कहानियां जीवन के कई अनछुए पक्षों को सामने लाती हैं और बदलते रिश्तों की चुनौतियों से टकराती भी हैं। अंत:भारती में अपनी भाषा के साहित्य की बानगी है कला से जुड़े प्रश्न, जहां वे परंपरा से साक्षात्कार करवाते हैं, वहीं थाह-अथाह समकालीन साहित्य के महत्वपूर्ण कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत करता है। जीवन सिंह, ठाकुर महेश्वर और चंडी प्रसाद भट्ट के आलेख साहित्य और समाज की चुनौतियों को रेखांकित करती हैं। पत्रिका का एक उद्यम यह भी है कि नए

रचनाकारों को सामने लाएं 'बीज की इबारत' शीर्षक खंड के कविता कहानी नामक परिक्षेत्र में नए हस्ताक्षरों का स्वागत गूंज रहा है। इस तरह की मुकम्मल पत्रिका के लिए मंडलोई जी साधुवाद के पात्र हैं प्रस्तुत अंक पत्रिका का नव वर्षांक था हम आशा करते हैं कि बरस भर ऐसे ही साहित्य कीबारिश होती रहे।

आधारशिला

आधारशिला का प्रस्तुत अंक तेलुगु साहित्य पर केंद्रित है। संपादकीय में दिवाकर

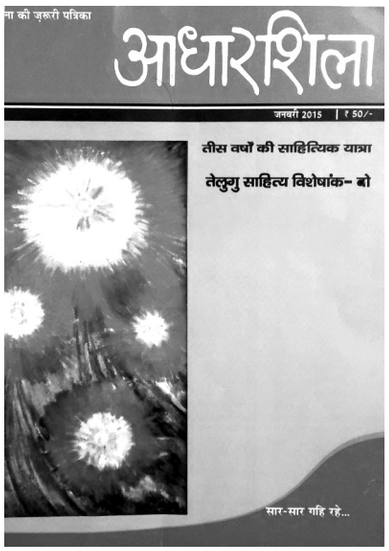

भट्ट ने यह बताने का प्रयास किया है कि जिसे हम आंध्रा-तेलंगाना संस्कृति के नाम से विभाजित करते हैं वह भारतीय संस्कृति का एक अहम हिस्सा है जिसकी जानकारी तेलुगु साहित्य के अध्ययन से ही हो सकती है। पिछले दशकों में जो कविताएं तेलुगु साहित्य में लिखी गई, वे आंध्रा और तेलंगाना के जन संघर्षों और वहां के सामाजिक अंतर्विरोधों की गाथाएं हैं, वे गाथाएं जितनी आंध्र और तेलंगाना के संदर्भ में जरूरी हैं, संपूर्ण भारतीय संदर्भ में भी उससे कमतर महत्व की नहीं हैं। इसी साहित्य परंपरा ने विश्वनाथ सत्यनारायण, आचार्य नारायण रेड्डी, राबूरि भारद्वाज जैसे ज्ञानपीठ विजेता भी दिए हैं। इस अंक में ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त कहानीकार राबूरि भारद्वाज की कहानी 'अरे यह क्या कहते हो तुम' का अनुवाद आर. सुमन लता ने किया है। इसी के साथ सोने का कंगन (श्री रमणा), फैशन शो (बीना देवी), चहारदीवारी (वेंकट सुब्बाराव), टाइटेनिक (सुरेश) आदि की रोचक कहानियां अपने समय की सच्चाई बयान करती हैं। श्री नारायण रेड्डी ने अपने साक्षात्कार में कई महत्वपूर्ण सवालों पर बेबाकी से अपनी बात रखी है।

वे नई पीढ़ी के लोगों से बहुत आशान्वित नजर आते हैं लेकिन मीडिया के प्रभाव को वह भी स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'लुक कल्चर ने बुक कल्चर को पीछे धकेल दिया है। पहले बच्चे किताबें पढ़ते थे। युवा उपन्यास, कहानी, कविता, वगैरह पढ़ते थे। आज एनीमेशन कार्टून आदि दृश्य माध्यम बच्चों को आकृष्ट कर रहा है। इस अंक के अन्य स्तंभ भी तेलुगु साहित्य के बुनियादी तत्वों को समझने में कारगर साबित हो सकते है। तेलुगु साहित्य पर केंद्रित यह अंक अंतरभारतीय साहित्य बोध की दृष्टि से संग्रहणीय है।

पाखी

पाखी में प्रेम भारद्वाज अपने संपादकीय में कुछ ज्वलंत मुद्दों के साथ उपस्थित होते हैं। आलोक धन्वा की कविता मन को छू जाती है जब कहते हैं-

बच्चे बहुत दिनों तक जीवित रह सकते

हैं
अगर आप उन्हें मारना बंद कर दें
भूख से
महामारी से
बाढ़ से और गोलियों से मारते हैं आप
उन्हें
बच्चों को मारने वाले आप लोग

यह कविता महज एक दृष्टांत है लेकिन इसी दृष्टांत के बहाने आलोक धन्वा ने एक बड़ी बहस को सामने लाने का प्रयास किया गया है। शम्सुरहमान फारूकी के कहानीकार रूप को प्रेम कुमार ने देखने परखने की कोशिश की है। 'सवार और दूसरी कहानियां' शीर्षक से फारूकी साहब ने हिंदी में प्रवेश किया। इस संग्रह में 'गालिव अफसाना', 'सवार', 'इन सोहबतों में आखिर', 'आफताब-ए-जमीं' और 'लाहौर की एक घटना' ये पांच कहानियां संकलित हैं। इन कहानियों के माध्यम से फारूकी के कहानीकार रूप को जांचा परखा गया है। इसी अंक में रमेश देव की मिसाल, शिवेंद्र की 'अब्दुल्ला की शादी में बेगानी ऊधम उर्फ लब जेहाद', रूपा सिंह की 'सनाटे की गंध' कहानी भी पढ़ी जा सकती है। रमेश देव अपने समय के चर्चित लेखक हैं। 'मिसाल' कहानी में जिदंगी का दस्तावेज प्रस्तुत किया गया है।

प्रदीप सौरभ का उपन्यास अंश 'और सिर्फ तितली' रोचक और पठनीय है। सुदीप्ति ने 'रंगरसिया' फिल्म की पड़ताल 'सूखे कंश रूखे भेष मनुवा बेजान' शीर्षक से किया है। उनका यह कहना बहुत हद तक ठीक मालूम पड़ता है कि, अपने प्रिय कलाकार को फिर-फिर रचने और उसके आवेगों-संवेगों से गुजरने के लिए खुद अपने भीतर उसे जीना भी पड़ता है। वर्ना जो बनेगा वह बाहरी, ऊपरी, सतही और उथला होगा। राजा रवि वर्मा की कला को लोगों के सामने लगाने के लिए फिल्मकार बधाई के पात्र हैं।' परिक्रमा रंगमंच' में अमितेश ने 2014 की नाट्य प्रस्तुतियों पर अपनी टिप्पणी की है। मंटो की कहानी 'लाइसेंस' और ब्रेख्त की कहानी 'द जाब' को आधार मानकर की गई

प्रस्तुति 'द लाइसेंस' के मूल्यांकन में उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि 'द जाब' की नायिका अपनी पहचान छिपाती है परंतु 'द लाइसेंस' की नायिका ऐसा न कर व्यवसायों के जेंडरीकरण विभिन्न पहलुओं को उभारती है। 'परिक्रमा मीडिया' में मुकेश कुमार साल भर की मीडिया की हलचल को सामने लाने का प्रयास किया है।

वर्तमान साहित्य

इस अंक में हिंदी कथा जगत की साठोत्तरी कथा पीढ़ी के आत्मबोध से रू-ब-रू कराते शेखर जोशी और दूधनाथ सिंह की अनौपचारिक प्रस्तुतियां सहज स्वाभाविक

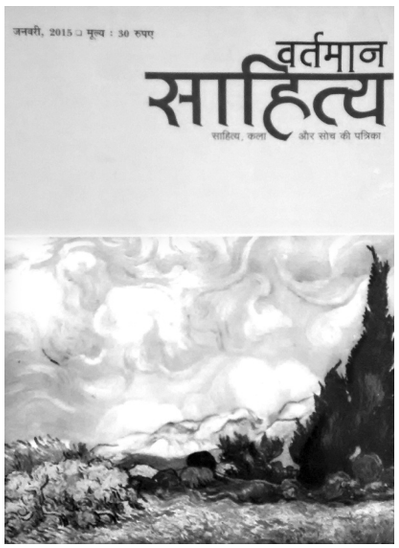

रूप से जीवन और साहित्य के रिश्ते को उजागर करती हैं। इस पीढ़ी के निजी और सामाजिक सरोकारों, गतिविधियों को उकेरते ये लेखक साहित्य-यात्रा की यादें ताजा करते हैं। शेखर जोशी की माने तो यह एक 'परिवर्तनकारी पीढ़ी' रही जो खोखले आदर्शों, झूठी मान्यताओं और मोहग्रस्तता से मुक्त होने के लिए जुटी थी। यह नई भाषा, नए मुहावरे के माध्यम से और बेलाग प्रस्तुति कर रही थी। दूधनाथ सिंह बीते दिनों की नोस्टाल्जिक वृत्ति को याद करते हैं। ज्ञानंरजन, रवींद्र कालिया, शमशेर, काशीनाथ सिंह के निजी संघर्ष और नया वृत्त नई कहन शैली किस तरह कठिन जीवन संघर्ष से उभरती है, इसका भी ताना बाना प्रस्तुत करते हैं। ब्रजेश्वर मदान पर शशिभूषण का एक बेहद रोचक संस्मरण है। इस अंक में समकालीन गुजराती साहित्य से परिचय कराने की पहल की गई है। 'सहवर्ती साहित्य' शीर्षक के अंतर्गत गुजराती कहानी और कविता की अच्छी बानगी मिलती है। गुजराती कवि राजेंद्र पटेल की पक्तियां जीवन का सत्य उकेरती हैं जो बहुतों का साझा सच है -

'बहुत सरल है
ध्वज हाथ में लिए सैकड़ो मील चलना
परिव्राजक बन भटकना भी सरल है
एक पैर पर खड़े रहना थोड़ा कठिन
किंतु सबसे कठिन है
स्थिर चलना।

राहुल सिंह की वैश्विक सिनेमा पर टिप्पणी में रोचक ढंग से कुछ बिंदुओं को छुआ गया है, जो प्रमुख फिल्मों में उभरते हैं। फिल्मों की यह समीक्षा, हरिसुमन बिष्ट, अनीता सबरवाल की कहानियां जीवन के कई मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती हैं। जीवन की आपाधापी, बदलते रिश्ते और प्यार के प्रश्नों से टकराती ये कहानियां पढ़ने के बाद भी अपना असर बनाए रखती हैं। प्रेमचंद की प्रसिद्ध रचना 'कफन' की कहानी को लेकर प्रेमचंद अध्ययन के विशेषज्ञ गोयनका जी का आलेख नई दृष्टि देता है। उनकी स्थापना है कि यह कहानी जीवन को उपस्थित करती है- वह जीवन जो लौकिक है भौतिक है और किसी और परलोक जैसी दुनिया की अपेक्षा नहीं करता है। 'रागदरबारी' पर विजयमोहन सिंह की टिप्पणी पर चली चर्चाओं का आलोकन करते हुए भारत भारद्वाज समीक्षा की भाषा में अनुशासन की जरूरत की ओर संकेत करते हैं।

सदानीरा

सदानीरा के आठवें अंक का प्रारंभ 'कवि कीड़ा नहीं है' के संपादकीय से होता है जिसमें आग्नेय ने 'तादयूस रोजेविच' की कविता 'कौन कवि है' से अपनी बात प्रारंभ करते हैं। उनके संपादकीय का संपूर्ण ताना-बाना इस कविता के इर्दगिर्द बुना गया है।

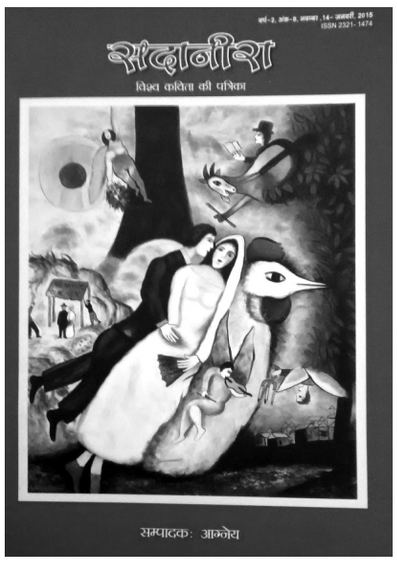

वर्तमान व्यवस्था से मेल-जोल खाती पंक्तियां देखी जा सकती हैं-

कवि वह है जो गिरने के लिए झुकता है
और वह, वह है जो स्वयं को ऊपर
उठाता है ।

जब वह इन पंक्तियों को रच रहे होते हैं तो निश्चय ही उनके मन में आम आदमी की पीड़ा रही होगी। उनका यह मानना है कि साहित्य में कोई प्रतिस्पर्धा की गुंजाइश नहीं होती बल्कि 'इसमें गचट्टी, चुके हुए और तलछट बने लोगों की गर्दनों में स्वर्ण पदक लटक सकते हैं'। गीत चतुर्वेदी ने शिम्बोर्स्का के गद्य पर अपनी बात रखी है। शिम्बोर्स्का एक ऐसी लेखिका हैं जिन्हें नोबल पुरस्कार मिलने के पहले कोई नहीं जानता था।

शिम्बोर्स्का की प्रसिद्धि का कारण उनकी कविताएं बनीं 'व्यू विथ अ ग्रेन आफ सैड' शीर्षक से उनका काव्य संग्रह अंग्रेजी में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक अमेरिका में चर्चित थी। कहने का तात्पर्य यह कि यदि व्यक्ति में रचनात्मकता है तो लोग उसकी सराहना अवश्य करते हैं उसके लिए किसी नोबल की आवश्यकता नहीं होती है। यह तो हुई इनके पद्य पर पर बात। लेकिन जिस शीर्षक से बात प्रारंभ हुई थी वह था

शिम्बोर्स्का का गद्य। देखा जाए तो इनका गद्य भी इनके कविता के समान ही ताकतवर हैं। यह 'नॉन रिक्वायर्ड रीडिंग' या 'गैरजरूरी वाचन' शीर्षक से अखबार में कॉलम लिखती थीं। वह भले ही काफी वजनदार क्यों न हो, उसे वे पाठकीय प्रतिक्रिया ही कहती थीं। इनके कुछ महत्वपूर्ण नमूने सदानीरा के प्रस्तुत अंक में देखे जा सकते हैं।

इसी अंक में उद्यन वाजपेयी की रचनात्मकता को भी केंद्र में रखा गया है। जिसमें उद्यन की कविताएं, उनकी डायरी के कुछ अंश, अनुवाद, यात्रावृत्तांत और साक्षात्कार है। उद्यन परंपरा और समकालीनता को एक साथ देखने वाले रचनाकार हैं इनकी कविताएं एक प्रकार के नए संसार में विचरण करने वाली कविताएं हैं। 'अभाव के अर्थ में बधा मनुष्य' शीर्षक कविता में उद्यन कहते हैं-

अभाव के अर्थ में बाधा मनुष्य
मृतक की परछाइयों को सिलकर चादर बनाता है
जिस पर उपस्थितियों के बीज वह
सलीके से बोता जाता है मानों
आकाश में चन्द्रमा नक्षत्र बो रहा हो कि प्रकाश हो सके

उदयन की डायरी के कुछ अंश भी कम रोचक नहीं है- 'कई दिनों से कविता में कोई नया मार्ग खोजने में लगा हूं, पर लगता है कुछ समय परीक्षा देनी होगी'।

नवनीता देव सेन की आठ बांग्ला कविताएं दी गई हैं, जिसका अनुवाद उत्पल बनर्जी ने किया है। सांवर दईया की चार राजस्थानी कविताएं भी इसी अंक में हैं, जो जेठमल मारू द्वारा अनूदित हैं। ग्रीक कवि जार्ज सेफरिस की कविताएं इस अंक को और भी महत्वपूर्ण बनाती हैं। इसके शीर्षक में ही इस बात घोषणा है कि यह पत्रिका विश्व कविता की पत्रिका है। समग्रता में प्रस्तुत अंक में विश्व कविता के अनेक रचनाकारों के धीरे-धीरे संस्कृति के कविताओं की बानगी पेश करता है जो हमें कविता के नए रूपों का आस्वाद कराने में सक्षम है।

संदर्भित पत्रिकाएं :

1. **वागर्थ :** फरवरी 2015, संपा. : एकांत श्रीवास्तव, भारतीय भाषा परिषद् 26, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-17 मूल्य : ₹ 20

2. **नया ज्ञानोदय** : जनवरी 2015, संपा.: लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 30

3. **आधारशिला** : जनवरी 2015, संपा. :दिवाकर भट्ट, बड़ीमुखानी, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखंड। मूल्य : ₹ 50

4. **पाखी** : जनवरी 2015, संपा.: प्रेम भारद्वाज, बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201303, गौतमबुद्ध नगर, उ.प्र., मूल्य : ₹ 30

5. **वर्तमान साहित्य** : जनवरी 2015, संपा.:विभूति नारायण राय, 28, एम.आई.जी., अवंतिका-1, रामघाट रोड अलीगढ़-202001 मूल्य : ₹ 30

6. **सदानीरा:** नवम्बर 2014-जनवरी 2015, संपादक : आग्नेय संपर्क : 15 बी-207, चिनार वुडलैंड, भोपाल-462016 मूल्य : ₹ 100 ■

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 55

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की नई वार्षिकी

। लोक। शास्त्रीय। परंपरा। आधुनिक।

ता ना-बा ना

कला-संस्कृति : व्यवहार और विमर्श

हिंदी और हिंदी से जुड़ी बोलियों की सांस्कृतिक विरासत, उनकी कला परंपराओं, उनकी लोक मान्यताओं, लोक, रूपंकर एवं प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ–साथ भारतीय नृत्य संगीत की वैभवशाली धरोहर, रंगमंच, स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला इत्यादि इस पत्रिका में व्यवहार और विमर्श की तरह सम्मिलित रहेंगे।

- शीर्षस्थ गायिका किशोरी अमोनकर से ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधु की बातचीत।
- कथक नृत्यांगना पद्मश्री शोभना नारायण से आनंद सिन्हा की बातचीत।
- जेम्स प्रिंसेप के बनारस के स्केच संग्रह पर युवा कवि व्योमेश शुक्ल के नोट्स – 'एक बार फिर यह शहर बसाया जा सकेगा'।
- 'लोक बोलियों के अंतर्संवाद के आधार' पर श्यामसुंदर दुबे की विवेचना।
- ख्यातिप्राप्त चित्रकार प्रभाकर कोल्ते का कला चिंतन – 'आस्वाद : एक दर्शन प्रक्रिया'
- कथावाचक प्रेम प्रकाश पांडे की कथा वाचन परंपरा पर विहंगम दृष्टि।
- सुप्रसिद्ध पंडवानी गायिका तीजन बाई से महावीर अग्रवाल की बातचीत।
- जे. स्वामीनाथन और सैयद हैदर रज़ा के चित्रकर्म पर कवि, आलोचक और संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी से चित्रकार मनीष पुष्कले का संवाद।
- प्रसिद्ध चित्रकार अखिलेश द्वारा विश्वविख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर का एक व्यक्तिगत संस्मरण।
- रंगकर्म के जीनियस पंडित सत्यदेव दुबे का सत्यदेव त्रिपाठी द्वारा स्मरण।
- बांग्ला रंगमंच का इतिहास और वर्तमान पर कृपाशंकर चौबे का आलेख।
- गायक पंडित परमानंद यादव द्वारा अपने गुरु कुमार गंधर्व की कुछ यादें।
- बदलते भारतीय कला बाजार पर सीरज सक्सेना।
- हवेली संगीत के मूर्धन्य गायक पंडित गोकुलोत्सव महाराज से देवेश वर्मा का संवाद।

और भी बहुत कुछ...

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन (10–12 सितंबर, 2015) में प्रवेशांक का लोकार्पण।

संपादकीय संपर्क : 09764495276 ई–मेल : tanabana2015@gmail.com

PUSTAK VARTA MAR-APR 2015 final_JULY-AUGUST 2014.qxd 22-08-2015 00:18 Page 56

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
अपील

स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय हिंदी के रचनाकारों की अमूल्य सामग्री संग्रहीत करने, उसे सहेज कर रखने और सुधी अध्येताओं व शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने के काम में जुटा है। सूचना मिलने पर सामग्री प्राप्त करने के लिए संग्रहालय अपनी ओर से संपर्क करता है और यदि उसे साहित्यकारों के परिजनों अथवा अन्य सुधी साहित्य सेवियों की ओर से सामग्री प्रदान किए जाने का प्रस्ताव मिलता है, तो उसे सहर्ष स्वीकार भी किया जाता है।

12 मई, 2012 को हिंदी के प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश सामग्री डॉ. रंजना अरगड़े ने संग्रहालय को प्रदान कर दी है, लेकिन शमशेर जी अपने जीवन काल में अनेक स्थानों पर रहे थे, अतः यह संभव है कि शमशेर जी ने अपनी कोई कविता, पेंटिंग या अन्य कोई सामग्री आप में से किसी को भेंट स्वरूप दी हो। यह भी संभव है कि शमशेर जी के जीवन–काल में ही उनकी कुछ सामग्री किसी के यहाँ छूट गई हो। अगर आप ऐसी तमाम सामग्री – पत्र, पांडुलिपियाँ, तस्वीरें, वस्तुएँ, पुरस्कार, हाथ से लिखा कोई पुर्जा, कोई स्मृति चिह्न, जो आपने अब तक अपने निजी संग्रह में सुरक्षित रखा हो, विश्वविद्यालय के संग्रहालय को देंगे, तो इससे व्यापक समाज लाभान्वित होगा और संग्रहालय आपकी इस भेंट से समृद्ध एवं गौरवान्वित होगा।

शमशेर जी की रचनावली प्रकाशन की प्रक्रिया में है। आपसे निवेदन है कि आप ऊपर संदर्भित कोई भी सामग्री शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालय को देने की पहल करें, ताकि उसका उपयोग रचनावली में किया जा सके। आपसे उपलब्ध हुई सामग्री आपके नाम के उल्लेख के साथ संग्रहालय में रखी जाएगी।

इस संबंध में आप निम्न लिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं –

प्रभारी : स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 8275410122
ईमेल : sureshsharmamedia@gmail.com